गोलेच्छा जैन ग्रंथमाला

पुष्प १

प्राचीन भक्तकवि निर्मित

भजनसंग्रह—धर्मामृत

[शब्दों की व्युत्पत्ति और समजूती सहित]

संपादक

वेचरदास जीवराज पंडित

विक्रम संवत् १९९५] [इस्वीसन् १९३९]

प्रकाशक:
शेठ शंकरलालजी मानमलजी गोलेच्छा
गोलेच्छा प्रकाशन मन्दिर, खीचन (जोधपुर)

गोलेच्छा जैन ग्रंथमाला में जैनधर्म व जैनधर्म के पोषक और समाज, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि से संबंध रखनेवाले विविध प्रकार के पुस्तकों का प्रकाशन होगा।

मुद्रक:
जीवनजी डाह्याभाई देसाई
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद

धारसिक श्रीमान शंकरलालजी गोलेछा

गोलेच्छा जैन ग्रंथमाला संरक्षक स्मृति

इतिहासप्रसिद्ध **मारवाड** देश, मारवाड में **जोधपुर** के पास **पोकरण फलोधी** से निकटतम और **गोलेच्छावंश** से सुशोभित **खीचन** नामक ग्राम, वहां

अगरचंदजी सेठ—भार्या चूनीबाई

जेठमलजी—भार्या राजकुंवरबाई | शंकरलालजी - भार्या संपतकुंवरबाई

मानमलजी—भार्या अनसूयाकुंवरबाई
विमला (पुत्री) मूलराज (पुत्र)

मल्लिकुमारी, कस्तूरकुमारी,
मानकुमारी (पुत्रीत्रय)

भाई मानमलजी ने अपने पिता, काका व पितामह की पुण्यस्मृतिनिमित्त **गोलेच्छा जैन ग्रंथमाला को** प्रकाशित कराने का संकल्प किया और उसी ग्रंथमाला के प्रस्तुत प्रथम पुस्तक के प्रकाशन के लिए अर्थप्रदान किया।

गोलेच्छाजैनग्रंथमालासंरक्षकस्मृतिः

जन्मभूमेर्जनन्या व सेवायां प्रागयागिनाम् ।
क्षत्रियाणां विशां ब्रह्म—वेदिनां धैर्यशालिनाम् ॥ १ ॥
योधानां जैनधर्मिणां शौर्य—वीर्यपूजायुजाम् ।
इतिहासप्रसिद्धे वै **मारवाडे** सुनीवृति ॥ २ ॥
ख्यातश्च **खीचनग्रामो** गोलेच्छावंशशोभनः ।
अग्रचन्द्रश्च तत्रासीत् श्रेष्ठी श्रेष्ठिशिरोमणिः ॥ ३ ॥
तद्भार्या **चूनिबाई**—ति सरला वत्सलाऽमला ।
अग्रचन्द्रात्मजौ **चूनि**—तनूजौ नरपुंगवौ ॥ ४ ॥
ज्येष्ठमल्लस्तयोर्ज्येष्ठः **शंकरः** शंकरोऽपरः ।
तावेतौ स्नेहिनौ बन्धू राम-लक्ष्मणलक्षणौ ॥ ५ ॥
तेजस्विनौ वदान्यौ च विद्याभक्तौ विवेकिनौ ।
जैनधर्मपरौ मान्यौ मातापित्रोश्च पूजकौ ॥ ६ ॥
कलिभीरू इवाऽल्पेन वयसा प्राप्तपञ्चतौ ।
तदेतेषां सपितॄणां पुण्यस्मरणहेतवे ॥ ७ ॥
ज्येष्ठमल्लात्मजो **मान—मल्लो** नम्रशिरोमणिः ।
सत्साहित्यप्रकाशाय संकल्पमकरोद् वरम् ॥ ८ ॥
तत्साहाय्यं च संप्राप्य विविधग्रन्थसत्सुमा ।
गोलेच्छाग्रन्थमालेयं संपाद्यते प्रकाश्यते ॥ ९ ॥

प्राप्तिस्थान

(१) गोलेच्छा प्रकाशन मन्दिर मु. खीचन (जोधपुर)
(२) श्रीनाथजी मोदी ज्ञान भण्डार, जोधपुर
(३) गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय
गांधीरस्ता, अहमदाबाद (गूजरात)

संपादकीय

प्रस्तुत भजनसंग्रह में जैन और सनातनी दोनों कवियों के मिलकर १०१ भजन का संग्रह है। संग्राहक की दृष्टि में सर्वधर्मसमभाव का उदार सिद्धान्त प्रधानतम है इससे ही इसमें अनेक संत भक्तों की वाणी का सुमेल किया गया है और संग्रह का नाम **धर्मामृत** रक्खा गया है।

भजनकर्ता जैन वा सनातनी होने पर भी उन सब का एक ही आशय भजनो में झलक रहा है। किसी संप्रदाय का अनुयायी — चाहे जैन हो, वैष्णव हो, शैव हो वा अन्य कोई भी हो — अपनी अपनी धर्मभावना को सुरक्षित रख कर भी प्रस्तुत संग्रह के भजन को संतोषपूर्वक गा सकता है। धर्मों के संप्रदायों में क्रियाकांड के अनेक प्रभेद होने पर भी आध्यात्मिक मार्ग में — धर्म के सच्चे व्यवहारु मार्गमें — सब धर्म — सब संप्रदाय, एक समान भूमिका पर ही रहते हैं इसका साक्ष्य प्रस्तुत भजनसंग्रह दे रहा है।

प्रस्तुत संग्रह से एक भी स्तोता को अंतर्मुख होने में कुछ थोडी बहुत सहायता मिली तो उनका सर्व श्रेय उन संत पुरुषों को है जिन के ये भजन हैं।

संग्रह करने में 'आश्रमभजनावलि' से सहायता मिली है इससे भजनावलि के संपादक साभार स्मरणीय है और 'विनयविलास' वा 'जसविलास' नामक एक मुद्रित जैनसंग्रह से भी सहायता प्राप्त हुई है। उक्त विलासद्वय की पुस्तक हमारे पास न थी परंतु भावनगरवाले धर्मनिष्ठ सुप्रसिद्ध **शेठ कुंवरजीभाई आनंदजीभाई** से हम को वह पुस्तक मिली थी इससे हम **शेठजी कुंवरजीभाई के** भी अनुगृहीत हैं।

भजन के एक भी राग को हम नहीं जानते किन्तु आश्रमवासी सुप्रसिद्ध संगीताचार्य **पंडित नारायण मोरेश्वर खरे** महोदय ने भजनों के सब राग निश्चित कर दिये हैं एतदर्थ उनकी भी अनुगृहीति उल्लेखनीय है। खेद है कि जब प्रस्तुत संग्रह प्रकट हो रहा है तब श्रीमान् **खरेजी** इस लोक में नहीं है।

प्रस्तुत सग्रहमें भजनों के उपरांत भजनो में आए हुए कितनेक प्राचीन शब्दों की व्युत्पत्तियां और समझ भी दी गई है। इससे जो भाई व्युत्पत्तिशास्त्र का रसिक होगा उनको व्युत्पत्तिशास्त्रविषयक रसवृद्धि होने की संभावना ह।

शब्दों की व्युत्पत्ति को प्रामाणिक बनाने के लिए मुख्य आधार ह दो—

(१) व्युत्पाद्य शब्द के मूल रूप से लेकर आधुनिक रूप तक के तमाम रूपों का संवादी आधार के साथ — संग्रह।

(२) अर्थसाम्य को आधार भूत रख कर और उच्चारण-जन्य विविध वर्णपरिवर्तन के नियमों से मर्यादित रह कर व्युत्पाद्य शब्द के मूल रूप से लेकर आधुनिक रूप तक का संग्रह।

प्रस्तुत संग्रह में दूसरे ही आधार का विशेष उपयोग किया है तो भी साथ साथ में यथाप्राप्त संवादी प्रमाण भी दिये गए हैं। केवल अक्षरसाम्य का आधार नहीं लिया है। केवल अक्षरसाम्य का आधार व्युत्पत्ति को भ्रांत बनाता है इससे इसको हेय समझ कर प्रस्तुत में अनुपयुक्त समझा गया है। केवल प्रथम आधार से काम करने में अधिकाधिक समय अपेक्षित है इतना समय सुलभ न था इससे प्रथमाधार को छोडना पडा।

अधिक सावधानी रखने पर भी व्युत्पत्ति की योजना में असंगतता रहने का संभव अवश्य है। इससे विद्वज्जन इस विषय में हमें सूचना करके अवश्य अनुगृहीत करें।

संपादक गूजराती है। प्रस्तुत पुस्तक के व्युत्पत्तिप्रकरण में आई हुई हिंदी भाषा भी उनकी गूजराती-हिंदी होने से सर्वथा शुद्ध न हो तो हिन्दी भाषाभाषी साक्षरगण उदारता से क्षमा करेंगे।

१२ व, भारतीनिवास सोसायटी
एलिसब्रिज
अमदावाद

बेचरदास।

संपादक प्रयुक्त—हिंदी भाषा की अशुद्धियों का शोधन

पृ०	अशुद्धि	शुद्धि	पं०
११७	*समजने	समझने	१४
,,	रात्री	रात्रि	,,
११८	लोक	लोग	२१
११९	'प्रहर' की	'प्रहर' के	१८
,,	के उपर से	से	१०
,,	×नहि	नहीं	१६
१२३	है नहि	है; यह नहीं	२०
१२४	अब तो यह निश्चित हुआ कि 'कुक्कुर'	'कुक्कुर'	२
१२४	जो जो	जिन जिन	५
१२५	–णम जा–	–गत हो जा–	२

* 'समज' धातु के स्थान में सब जगह 'समझ' धातु जानना ।

× 'नहि' के स्थान में सर्वत्र 'नहीं' समझना ।

१२५	+सुतां	सूतां	१८
१२६	÷रात्री	रात्रि	१३
१२७	रजनी–उस के उपर से	रजनी–से	४
१३४	उनकी	उनके	१०–२०
,,	मेरी	मेरे	२०
१३६	पस्ताना	पछताना	२
१३८	कारण गड्डरिका– प्रवाहानुसारी उनके	कारण उनके	२
१४३	लुंट	लूंट	२०
१४९	हि	ही	२

+ 'सुतां' के स्थान में सर्वत्र 'सूतां'

÷ 'रात्री' के स्थान में 'रात्रि'।

विशेष स्मरण

आज से प्रायः सात आठ वर्ष पहले जब कि श्रीमान् **पुरुषोत्तमदास टंडनजी** गुजरात विद्यापीठ में आए थे तब मुझको उनका परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला था। यों तो श्रीमान् टंडनजी प्रखर राष्ट्रपुरुष हैं और यू० पी० के राष्ट्रस्तंभो में उनकी अग्रगणना है, तो भी राष्ट्रभक्ति के साथ साथ उन्होंने साहित्य-भक्ति को भी अच्छा स्थान अपने हृदय में दिया है यह बात मुझको उनके प्रथम परिचय से ही अवगत हो गई थी। हमारी बातचीत का विषय प्राकृत साहित्य और जैन आगम था, मात्र पंद्रह-बीस मिनिट तक की बातचीत से उनके साहित्यभक्ति, अभ्यासगांभीर्य और असाधारण साधुता आदि कई सद्गुणों का प्रभाव आजतक मेरे मन में अंकित है। जब प्रस्तुत संग्रह छप कर तैयार हुआ तब मेरा विचार हुआ कि इसके लिए दो शब्द भी श्रीटंडनजी से अवश्य लिखवाना। मैं जानता था कि आप आजकल राष्ट्रीय महासभा की ओर से लखनऊ की राजसभा के संचालक—स्पीकर—के बडे पद पर कार्य करते हैं इससे अनेक तरह के कार्यभार से दबे हुए होंगे तब भी मैंने तो धृष्ट होकर

दिल्लीवाले मेरे स्नेही भाई **गुलाबचन्दजी** जैन को प्रस्तुत संग्रह की प्रस्तावना के लिए श्री टंडनजी का निर्देश कर के एक पत्र दिया। उन्होंने इस बात की चर्चा हिंदी हरिजन के संपादक और हिंदी साहित्य के गौरवरूप श्रीमान् वियोगी हरिजीसे की, (जब मैं दिल्ली में रहा था तब मुझको श्रीमान् हरिजी का भी परिचय प्राप्त करने का सुअवसर मिला था) उन दोनों महाशयों की प्रेरणा से और मेरे पत्रव्यवहार से श्रीटंडनजीने प्रस्तुत संग्रह के लिए कुछ लिखने का स्वीकार कर लिया और अधिक कार्यभार की व्यग्रता के कारण वे शीघ्र तो न लिख सकतें परंतु मेरी तरफसे शीघ्रता करने के लिए भाई गुलाबचंद उनके पास लखनऊ के स्पीकरभवन में जा बैठा और इसी कारण आज पाठकों के समक्ष श्रीटंडनजी के गांभीर्यपूर्ण दो शब्दों को भी मैं प्रस्तुत संग्रह में दे सका हूँ।

एतदर्थ प्रस्तुत गोलेच्छा ग्रंथमाला के संचालक, श्रीमान् **टंडनजी** के, भाई **हरिजी** के और भाई **गुलाबचन्दजी** जैन के सविशेष ऋणी हैं और मैं भी।

मेरी लिखी हुई 'शब्दों की व्युत्पत्तियां और समझ' में हिंदी भाषा की जिनजिन गलतीयों का श्रीमान् टंडनजीने निर्देश किया है उनको मैं सादर स्वीकार करता हूँ और भविष्य में हिंदी लिखने में अधिक सावधान रहने का संकल्प करता हूँ और श्रीमान् टंडनजी निर्दिष्ट सब गलतीयों का शुद्धिपत्रक भी प्रस्तुत संग्रह के साथ ही दे देता हूँ। मेरी अशुद्धियां के लिए मैं फिर भी हिंदी साक्षरों से क्षमा मांगता हूँ।

बेचरदास

प्रस्तावना

यह 'धर्मामृत' संग्रह पंडित बेचरदासजी ने किया है। इसमें वैराग्य रस से भरे हिन्दी और गुजराती के १०१ गीत हैं। इसमें विशेषता यह है कि कबीर, नानक, नरसी महेता, सूरदास के साथ साथ ऐसे महात्माओं के गीत हैं जो जैन सम्प्रदाय के समझे जाते हैं और जिन में से अधिकांश गुजरात के रहने वाले थे। मुझे इससे पहले इन जैन कवि महात्माओं का ज्ञान न था और उनकी कृतियों का संग्रह देखने को नहीं मिला था।

इस संग्रह को देख कर मेरे हृदय में दो विचार शैली उठीं--एक तो यह कि हिन्दी भाषा सदियों से हमारे देश में बहुत व्यापक रही है और दूसरे यह कि शुद्ध भाव के मौलिक विचार करने वाले सदा आन्तरिक अनुभव के बाद सीमित साम्प्रदायिकता के बन्धनों से ऊपर उठते हैं।

हिन्दी में संत साहित्य जिस ऊंची श्रेणी का है वह न संस्कृत में है और न किसी अन्य भाषा में है। उसकी जड ही हिन्दी में पड़ी है। कबीर इस साहित्य के सिरमौर हैं। गुरु नानक, दादू, पलटू, रैदास, सुन्दरदास, मीरांबाई, सहजोबाई आदि प्रसिद्ध महात्माओं में कबीर की बानी की छाप स्पष्ट दिखायी

पड़ती है। उन्हीं का विस्तृत प्रभाव मुझे गुजरात और महाराष्ट्र के संतो पर दिखायी पड़ता है। इस संग्रह में जो जैन कवि बताये गये हैं — ज्ञानानन्द, विनयविजय, यशोविजय, आनन्दघन, आदि — उनकी भी कृतियों में, हिन्दी और गुजराती दोनों प्रकार की माणिक-मालाओं में, गूथने वाला तार मुझे वही कबीरदास की वानी से निकला हुआ रहस्य-संवाद दिखायी देता है। जैन सम्प्रदाय में उत्पन्न इन महात्माओं में, जिनकी कविता का संग्रह इस पुस्तिका में दिया गया है, मुझे ज्ञानानन्द की वानी विशेष रीति से गहरी, मार्मिक और प्यारी लगी। इनकी वानी उसी रंग में रंगी है और उन्हीं सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाली है जिनका परिचय कबीर और मीरा ने कराया है — आन्तरिक प्रेम की वही मस्ती, संसार की चीज़ों से वही खिंचाव, धर्म के नाम पर चलायी गयी रूढियों के प्रति वही ताड़ना, बाह्य रूपान्तरों में उसी एक मालिक की खोज और बाहर से अपनी शक्तियों को खींच कर उसे अन्तर्मुखी करने में ही ईश्वर के समीप पहुंचने का उपाय।

शब्दों और अलंकारों का प्रयोग भी उसी प्रकार का है। राम-नाम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नगरी, तस्कर, मन्दिर के दस दरवाजे, चार वेद, भस्म, सुन्नत, अल्ला, जोगी, प्याला, मतवाला, पिया, महल, ज्ञानी, गुरु, सद्गुरु, अंतरजामी, अलख, अजर, निरंजन, पंखिया, पंजर—ये शब्द उसी ध्वनि, उपमा और उत्प्रेक्षा के बीच आये हैं जो संत-साहित्य की विशेष सम्पत्ति है। उस साहित्य से परिचय रखने वाले तुरत इसका अनुभव करेंगे। संग्रह के कुछ गीतों में कवि का जैन सम्प्रदाय से सम्बन्ध प्रगट होता है किन्तु यह केवल कुछ शब्दों के प्रयोग में; कर्तव्यशिक्षा

और सिद्धान्तों में वही भारत-व्यपिनी संस्कृति की उच्च भावनायें हैं ।

इस संग्रह के भजनों को पंडित बेचरदासजी ने किन प्रतिलिपियों से लिया है सो मैं नहीं जानता; किन्तु जो छपी पुस्तिका मेरे सामने है उसमें शब्दों के प्रयोग में अशुद्धियाँ बहुत हैं । मुझे जान पड़ता है कि प्रतिलिपियाँ ठीक नहीं लिखी गयीं। यह सच है कि ज्ञानानन्द, विनयविजय, यशोविजय आदि कविगण गुजराती थे और सम्भव है कि उनके शब्दों के प्रयोग में हिन्दी-भाषा-भाषी कवियों के प्रयोग से कहीं कहीं भिन्नता रही हो, किन्तु बहुत से शब्दों की लिखावट से छंद की चाल का इतना नाश हो जाता है कि मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये अशुद्धियां वास्तव में कवियों की हैं । मुझे यह सब अशुद्धियां प्रतिलिपिकारों की ही मालूम होती हैं ।

इस संग्रह से मुझे हिन्दी के कुछ संत कवियों का परिचय मिला । मेरे लिये इस संग्रह का विशेष मूल्य इसी दृष्टि से है । संग्रह में पंडित बेचरदासजी ने कवि-महात्माओं का कुछ थोड़ा सा परिचय दिया है । इससे उसका मूल्य बढ़ जाता है; किन्तु कवियों के सम्बन्ध में जितनी जानकारी पंडितजी ने दी है उससे मेरा संतोष नहीं हुआ । मैं तो चाहता हूं कि पंडितजी जब उन्हें समय मिले इन सब कवियों और उनके रचित ग्रन्थों के सम्बन्ध में खोज कर अधिक पता लगावें । हिन्दी और गुजराती के प्राचीन पारस्परिक सम्बन्ध और उनके आधुनिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से इस प्रकार की खोज विशेष महत्त्व रखेगी ।

जिस शैली पर पंडित बेचरदासजी ने इस संग्रह का सम्पादन किया है वह अद्भुत पांडित्यपूर्ण है । हिन्दी में मैंने

इस शैली से सम्पादित कोई पुस्तक नहीं देखी । पंडितजी ने इसके गीतों में प्रयुक्त २६७ शब्दों की व्युत्पत्तियां दी हैं । भापा-विज्ञान की दृष्टि से ये बहुत रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं । पंडित बेचरदासजी प्राकृत के विशेषज्ञ और अनोखे जानकार हैं । उनका पांडित्य इन शब्दों के अर्थ और उनकी व्युत्पत्ति के बताने में दिखायी पड़ता है । जिन शब्दों की व्युत्पत्ति पर पंडितजीने प्रकाश डाला है उनमें से बहुतों के परम्परागत स्वरूपों का हमें नया परिचय मिलता है । पहले ही शब्द 'भोर' की पंडितजीने जो व्याख्या लगभग साढे चार पन्नों में की है उसे पढ़ कर मुझे 'भोर' शब्द एक नये रंग और स्वरूप में दिखलायी पड़ने लगा ।

पंडित बेचरदासजी गुजराती हैं । हिन्दी उनकी मातृभापा नहीं है । इससे उनकी भापा में हिन्दी लिखने के क्रमसे पृथकता दिखायी देती है । उनका अक्षर-विन्यास भी कई स्थानों पर हम को खटकता है । 'रात्रि' का 'रात्री', 'समझना' का 'समजना' 'नहीं' का 'नहिं' 'लोग' का 'लोक'—ये प्रयोग हिन्दी पढ़ने लिखने वालों को खटकेंगे । परन्तु हमारे लिये तो इन खटकने वाली वस्तुओं के कारण, जो पंडितजी के हिन्दी भापाभापी न होने की साक्षी हैं, इस संग्रह और उसके सम्पादन का मूल्य और अधिक हो जाता है । पंडित बेचरदासजी ऐसे पंडित हिन्दी के साहित्य की पूर्ति में लगे हुए हैं यह हिन्दी साहित्य के व्यापक और राष्ट्रीय स्वरूप का द्योतक है । मैं इस संग्रह का कृतज्ञता और प्रेम से स्वागत करता हूं ।

लखनऊ

१०, मार्गशीर्ष ९५ — पुरुषोत्तमदास टंडन

ता. २६-११-३८

भजनकार कवि परिचय

प्रस्तुत संग्रह में जैन कवि और सनातनी कवि — दोनों के भजन लिए गये हैं। प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य उद्देश इतिहास नहीं है तो भी संतसमागम की अपेक्षा से उक्त दोनों प्रकार के भजनकारों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः दिया जाता है :

जैन कवि —

ज्ञानानंद — भजनकार ज्ञानानंद का समय प्रायः सत्तरहवीं शताव्दी है। उनके भजनों में उनका नाम तो आता है साथ में **निधिचारित** शव्द भी वारंवार आता है। इससे ऐसी कल्पना होती है कि **निधिचारित** नाम उनके गुरु का हो। भजनकार की दृष्टि अन्तर्मुख है। दूसरा भजन वनाया है तो ज्ञानानन्द ने परन्तु "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई" भजन का उक्त भजन में पूर्ण प्रतिविंव है और "मेरे तो गिरधर" भजन श्री मीरांवाई का है। ज्ञानानंद के विषय में दूसरी कोई हकीकत उपलब्ध नहीं जान पड़ती। संभव है कि कवि गुजरात के वा मारवाड़ के हों।

विनयविजय — समय सत्तरहवीं शताब्दी। माता का नाम राजश्री और पिता का नाम तेजपाल। गुरु का नाम कीर्तिविजय उपाध्याय। प्रस्तुत कवि गुजरात के हैं। इनके बनाये हुए ग्रंथों से इनका संस्कृत भाषा-विषयक और जैन आगम विषयक सांप्रदायिक पांडित्य प्रतीत होता है। 'हैमलघुप्रक्रिया' नामक छोटासा संस्कृत व्याकरण भी इन्होंने बनाया है और उस पर एक बृहद्वृत्ति का भी निर्माण किया है। भाषा में भी इनके स्वाध्याय-स्तुति अधिक मिलते हैं। पंडित जयदेव का बनाया हुआ संस्कृत गेय ग्रंथ गीतगोविंद — इसमें शृङ्गार अधिक होने से अधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार का एक गेय ग्रंथ प्रस्तुत कवि विनयविजयजी ने बनाया है। परन्तु उसमें शृङ्गार के स्थान में शांतसुधारस है। जयदेव का ग्रंथ प्रसिद्ध प्रसिद्ध हिन्दी रागों में है और विनयविजयजी का शांतसुधारस प्रसिद्ध प्रसिद्ध गुजराती देशी के रागों में है। देशी के राग होने पर भी वे गेय काफी, टोडी, रामगिरि, केदारो इत्यादि प्राचीन रागों में भी गीत के रूप में चल सकते हैं।

नमूना के तौर पर —

कलय संसारमतिदारुणं
जन्ममरणादिभयभीत! रे।
मोहरिपुणेह सगलग्रहं
प्रतिपदं विपदमुपनीत! रे॥ कलय०

उक्त शांतसुधारस से कवि का संस्कृत भाषा विषयक पांडित्य अनोखा ही प्रतीत होता है। कवि उनके अन्यान्य ग्रन्थों में सांप्रदायिक होते हुए भी अपने भजनों में तो वे

विशालदृष्टि और अन्तर्मुख मालूम होते हैं। प्रतीत होता है कि शुरू शुरू में वे सांप्रदायिक रहे होंगे पर सम्प्रदाय के संकीर्ण और कलहमय स्वरूप का अनुभव होने पर वे समदर्शी, सर्वधर्मसमभावी, व्यापकदृष्टि और अंतर्मुख बन गए हैं।

यशोविजय — समय सत्तरहवीं शताब्दी। पिता का नाम नारायण व्यवहारी—वणिक। माता का नाम सौभाग्य देवी। वतन का नाम कनहेडुं गाम (पाटण के आसपास)—गुजरात। दो भाई थे —जशवंत और पद्मसिंह। गुरु का नाम नयविजय वाचक। दीक्षित अवस्था का नाम यशोविजय। ये बड़े विद्वान् थे। इन्होंने काशी में और आग्रा में रहकर न्यायशास्त्र अलंकार-शास्त्र और व्याकरणशास्त्र का गंभीर तलस्पर्शी अध्ययन किया था। काशी में ही विद्वत्सभा में जय प्राप्ति करके 'न्याय विशारद' की पदवी पाई थी। जैन समाज में ये दूसरे हेमचन्द्राचार्य हुए हैं ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं। इनने अनेक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें अधिकतर तर्कप्रधान–दर्शनशास्त्र संबन्धी है और अन्य ग्रन्थ अध्यात्म विषय के हैं। भाषा में भी इन्होंने अपनी लेखनी चलाई है और बड़े बड़े मार्मिक स्वाध्याय, भजन व रास लिखे हैं। तर्क के गहन विषय को भी इन्होंने भाषा में उतार कर अधिक सरल रीति से दर्शाया है। न्यायखंडनखाद्य, न्यायालोक, गुरुतत्त्वविनिश्चय अध्यात्ममतपरीक्षा पातंजलयोग सूत्र के चतुर्थपादकी—कैवल्यपादकी—वृत्ति प्रभृति इनके ३७ ग्रन्थ तो मुद्रित हो चुके हैं और दूसरे ऐसे अनेक ग्रंथ आज तक अमुद्रित पड़े हैं और कितनेक तो उपलब्ध

न होने के कारण दुष्प्राप्य से हो गये हैं। प्रस्तुत कवि जब काशी से लौटकर अहमदाबाद आए तब गुजरात के उस समय के बादशाह महोबतखान ने इनका बड़ा स्वागत किया था। यशोविजयजी अवधान भी करते थे। ये बडे तार्किक थे, प्रतिभासंपन्न कविराज थे और सर्वधर्मसमभावी आध्यात्मिक पुरुष थे। इनका स्वर्गवास डभोई (वडोदा स्टेट) में हुआ जहां उनकी समाधि बनी हुई है।

आनंदघन — दूसरा नाम लाभानंद। समय सत्तरहवीं शताब्दी। ये बडे आध्यात्मिक पुरुष थे। सुना जाता है कि इन्होंने मेडता–मारवाड में समाधि ली थी। इनके विषय में कोई निश्चित इतिवृत्त नहीं मिलता। ये शुद्धक्रियापक्षी, अंतर्मुख और जैनआगम के गहरे अभ्यासी थे। इनके रचे हुए अनेक पद और स्तवन मिलते हैं जिनका समुच्चित नाम 'आनंदघनवहोंतरी' और 'आनंदघनचोवीशी' है। आनंदघनजी के साथ यशोविजयजी का उत्कट आध्यात्मिक प्रेम रहा था।

उदयरत्न — अठारवी शताब्दी। ये खेडा (गूजरात) के रहनेवाले बडे नामी कवि हुए हैं। बडे तपस्वी, त्यागी और आध्यात्मिक मुनि थे। 'रत्ना' नामक भावसार के ये गुरु थे। इनका देहांत मिआंगाम (गूजरात) में हुआ है। इनकी सब कृतियां भाषा में ही हुई हैं। भजन, भास, रास, शलोका, स्वाध्याय, स्तवन, स्तुति, वगेरे इन्होंने अधिक बनाए हैं। इनको 'उपाध्याय' की पदवी थी।

आनंदवर्धन — अठारहवीं शताब्दी। ये महात्मा खरतरगच्छ के थे। इन्होंने चोवीश तीर्थंकर के स्तवन बनाए हैं जो 'चोवीशी' ने नाम से ख्यात है।

वीरविजय — ये बडे प्रसिद्ध कवि हुए हैं। भाषा में ही इनकी रचना पाई जाती है। गूजरात के थे। समय उन्नीसवीं शताब्दी। कवित्व में ये कविराज 'दयाराम' के समान थे।

खोडाजी — ये लोंकागच्छ के थे। समय बीसवीं शताब्दी। ये गृहस्थ कवि मालूम होते हैं।

सांकळचंदजी — समय बीसवीं शताब्दी। ये भी गृहस्थ कवि जान पड़ते हैं।

सनातनी कवि —

सूरदास — समय सोळवीं शताब्दी। इनका वनाया हुआ सूरसागर ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं, उस में एक लाख पद्य हैं। इनका वृत्तांत तो अधिक प्रसिद्ध है। सूरदास के भजन उनकी अन्तर्मुखता और ईश्वरपरायणता के ठीक सूचक है।

कबीर — जन्मसमय : वि. स. १४९६ निर्वाण समय १५७४। ये महात्मा का वृत्तांत सुप्रसिद्ध है। इनके जीवन में चमत्कृतियां भी कम नहीं, गुरु का नामः रामानंद। स्त्री के नाम लोई ?।

रैदास — ये वडे भक्त मालूम होते हैं। इनके भजन के प्रत्येक वचन से ईश्वरभक्ति टपक रही है। समय और वृत्तात अवगत नहीं।

नरसैंयो — प्रसिद्ध नाम नरसिंह महेता। समय वि. स. सोळवीं शताब्दी। जन्मस्थान जुनागढ—काठियावाड का एक मुख्य नगर। ज्ञाति वडनगरा नागर। अपनी भावज के टोंणसे ये घरसे नीकल पडे और भगवद्भक्तिपरायण हुए। हारमाला वगेरे अनेक संग्रह इनके वनाये हुए है। इनके

समय में सौराष्ट्र का राजा मांडलिक था। इनके विषय में अनेक चमत्कार सुने जाते है। काठियावाड में तलाजा के पास गोपनाथ—समुद्रतटवर्ती स्थान—नामक महादेव के स्थान में इनकी प्रतिमा है। संत तुकाराम के समान ये भक्त कवि ने अस्पृश्यों का भी उद्धार करने के लिए अधिक प्रयास किया था। इनका भजन—

"वैष्णव जन तो तेने कहीए जे पीर पराई जाणे रे"

राष्ट्र के प्राणसमान महात्मा गांधीजी को भी अधिक प्रिय है।

दयाराम—समय उन्नीसवीं शताब्दी। ज्ञाति साठोदरा ब्राह्मण। स्थान चाणोद—गूजरात। दयाराम कवि वल्लभ-संप्रदाय का था। इनके गुरु का नाम इच्छाराम भट्ट। 'रसिकवल्लभ' 'पुष्टिपदरहस्य' और 'भक्तिपोषण' इत्यादि अनेक ग्रंथ इनके बनाए हुए है।

निष्कुलानंद—समय उन्नीसवीं शताब्दी। संप्रदाय स्वामीनारायण। 'भक्तिनिधि' 'वचननिधि' और 'धीरजआख्यान' वगेरे अनेक ग्रंथ इनके रचे हुए हैं।

मुक्तानंद—समय उन्नीसवीं शताब्दी। संप्रदाय स्वामीनारायण। वतन धांगध्रा—काठियावाड। 'सतीगीता' 'उद्धवगीता' इत्यादि ग्रंथ इनकी रचना है।

भोजो भगत—समय उन्नीसवीं शताब्दी। ये काठियावाड के ज्ञाति से कुणबी होने पर भी बडे नामी और मर्मवेधक कवि थे। गलिया घोडा चाबुक लगाने पर ही चलता है इस न्याय से विलासपतित समाजरूप गलिये घोडे को इन्होंने अपने भजन रूप चाबुक द्वारा खूब फटकारा है।

इसीसे उनके भजनों का नाम 'चावखा' प्रसिद्ध हो गया है। ये वडे निर्भीक और निस्पृह थे। 'चेलैयाआख्यान' इनकी कृति है।

रायचन्दभाई — जन्मस्थान ववाणीआ–काठीयावाड–मोरवी के पास। पिता का नाम रवजीभाई। माता का नाम देवबाई। छोटे भाई का नाम मनसुखलाल। जन्म समय संवत् १९२४ कार्तिक शुदि १५ रविवार। जैन संप्रदाय के होने पर भी ये महापुरुष विशाल दृष्टिवाले थे, सर्वधर्मसमभावी थे। महात्मा गांधीजी को भी इनके साथ पत्र व्यवहार करने से व इनके साक्षात् परिचय से वडा लाभ हुआ है। निर्वाण समय संवत् १९५७ चैत्र व० वि० ५ मंगलवार दोपहर के दो वजने पर। 'श्रीमद्राजचन्द्र' नामक एक वडे ग्रंथ में इनका सब पत्रव्यवहार, मोक्षमाला, आत्मसिद्धिशास्त्र इत्यादि प्रकट हो गये हैं। जैनधर्म के मर्म को समझने के लिए उनका उक्त 'श्रीमद्राजचन्द्र' अतिउपयोगी ग्रन्थ है।

नरसिंहरावभाई — दीवेटिया कुटुम्ब के ये गुजराती विद्वान् प्रखर भाषाशास्त्री थे। गुजरात के वर्तमान कवियों में इनका असाधारण स्थान है। प्रतिभा, गांभीर्यपूर्णसाक्षरता, पृथक्करण और निरीक्षण का कौशल ये सब इनके प्रधान गुण हैं। 'कुसुममाला,' 'हृदयवीणा,' 'नुपूरझंकार,' 'स्मरणसंहिता' और 'गुजराती भाषा और साहित्य' इत्यादि इनकी अनेक कृतियां प्रतीत हैं। इनका अवसान गत वर्ष ही हुआ। ये वडे ईश्वरभक्त ब्राह्मोपासक थे। ईश्वर पर इनका विश्वास असाधारण था।

*तुं	तू
×क्युं	क्यूं
चारित्र	चारित्त
(२)	
मांहे	मांहिं
छाण	छानि
चित्त	चित
(३)	
सहु	सब
परमाद	प्रमाद
कागल	कागद
मगरुरी	मगरूरी
नहीं	नहिं
गाफील	गाफिल
रहे	रहो
(४)	
मांहे	मांहिं
आखर	आखिर
इग	इक
हेगा	होगा
इग	इक
हेगा	हैगा

(५)	
भाइ	भाई
लाख	लख
चौराशी	चौरासी
योनि	योनी
मांहे	मांहीं
रूपें	रूपे
चवदह	चौदह
नाहिं	नाहीं
(६)	
हे	है
इग	इक
(७)	
अवधू	अवधू,
सुता	सूता'
हे	है
भरोसा	भरोसा
ए	या
अजहु	अजहुं
बांधी	बाँधी
सुनी	सुनि
चारित्र	चारित

---

*प्रस्तुत संग्रह में 'तुं' के स्थान में 'तू' समझना।

× मुद्रित 'क्युं' के स्थान में 'क्यूं' समझना।

(८)

विनजारा	बनजारा
तम	तुम
उपर	ऊपर
संपत्त	संपत
भइ	भई
खवारी	ख्वारी
पहेले	पहले
पद	तू पद

(९)

महनत	मिहनत
नहीं	नहिं
एहने	इहने
दरव	दरव
भसम भुत	भसमभुत
ज्युं	ज्यूं
त्युं	त्यूं
एह	इह
करी	करि
भाइ	भाई
ल्युं	ल्यूं

(१०)

*हमकुं	हमकूं
ईसर	ईस्वर

(११)

(भाइ)	(भाई)
खातर	खातिर
ताहां	तहँ
करुं	करूं
जूली	झूली
देखुं	देखूं
इग	इक

(१२)

साहेवका	साहवका
जिहां	जहँ
हे	है
होय केइ	हुवै कै
होय	हुवै
वहेरा	वहरा
वाजे	वाजै
गहेरा	गहरा
केइ	कै
पहरे	पहरि
वेसे	वैसै
कुं	कूं
सवकुं	सवकूं
समजो	समझो

---

* 'हमकुं' के स्थान नें 'हमकूं'।

लोभायो	लुभायो

(२८)

कार्य नहि	नाहीं कार्य
नाहि	नाहीं
नव	नव

(२९)

छांडी	छांडि
दोनु	दोनों

(३०)

को	कोइ
मुलकने	मुलककूं
आगल	आगे
पूकारे	पुकारे
निरखुं	निरखूं

(३१)

छोरुं	छोड़ूं
इ	ई
कामसुं	कामसूं
हुं	हूं
आधीन	अधीन
नाभि	नाभी

(३२)

काहेकुं	काहेकूं
फीरे	फेरि
जिउ	जाउ
चिहुं	चहुं
बुजावन	बुझावन
पायो	पाई
यौंहि	यौंही
लाउ	लावो

(३३)

जैसी	जिम
छांहि	छाहि
याहि	जाहि
समजों	समझौ
रुख	रूख
काहीं	कहिं
सांइ	साँई

(३४)

कीए	कीन्हें
या को	जा को
पाहार	पहार
कीए	किये
फीरे	फिर
काहु	कहुं
चेन	चैन
जीया	जीय
जिने	जाने
सांइ	साँई

(३५)

अकिला	अकेला
सवारथ	स्वारथ
अंगिठी	अंगीठी

(३६)

एसा	ऐसा
फरुं	फरूं
शुं	सूं
फीराउ	फिराऊं
जलावुं	जलावूं
हुंणी	हूंणी
वासुं	वासूं
जिने	जाने

(३७)

वोत	वहु
जिउ	जीउ

(३८)

मुंझ	मूंझ
छोरी	छोडि
एक	इक

(३९)

भो	भौ
साचे	सांचे
अलुफा	अल्फा
खुब	खूब
हांसल	हांसिल

(४०)

तुंहि	तूंहि
युंहि	यूंहि
ताकुं	ताकूं

(४१)

माहा	महा
ठगणी	ठगिनि
लेइ कर	निसिदिन (पाठांतर)
घर भवानी	घर होइ भवानी
तीरथीयाकुं	तीरथ में होइ (पाठांतर)

(४२)

निहालो	निहारो
मतवालो	मतवारो
लरे	लैर
फरे	फिरे
मुझकुं	मोंहिं
अजुआलो	उजियारो
पखालो	पखारो

(४३)

मयल	मैल
ऊनमें	उनमें
घेहेलो	घहिलो
ऊदासे	उदासे

शीख	सीख
उंची	ऊंची
(४६)	
नाऊमें	नाउमें
समरयो	समर्यों
तुज	तुझ
(४८)	
सवि	सव
सुने	सूने
(४९)	
जुठी	जूठी
दोनु	दोउंन
ओर	अरु
एकेलो	अकेलो
(५०)	
अध्यात्म	अध्यातम
चिने	चीने
कहां	कहं
जइ	जाइ
(५१)	
सुको	सूको
तुज	तुझ
(५२)	
दुर्ज्जन	दुर्जन
ओर न	और न

जाये	जाय
ऊंच	ऊंचा
जाइ	जावै
ऊपगृह	उपगृह
ऊनकी	उनकी
(५३)	
हुं	हूं
शुं	सूं
(५४)	
तुरंग	तरंग
झहाज	जहाज
(५५)	
होसे	होशे
मारी	मारि
मिरा	मीरा
विनुं	विनु
अचुत	अच्युत
(५८)	
उंधे	ऊंधे
अग्नि	अग्नी
(५९)	
दीना	दिना
दीवानी	दिवानी
(६२)	
सुमरे	सुमरैं

(६३)

कान	कान्ह
रहिम	रहम
निकर्म	निष्कर्म

(६४)

शहेर	शहर
नाटिक	नाटक
भांत के	भाँति के

(६६)

प्यारशुं	प्यारसूं
भुख	भूख
आनंदशुं	आनंदसूं

(७३)

मिल करके एक	मिल कैं दोउ एक (पाठांतर)
पर्या	धर्यो (,,)

(७६)

आसिक	आशिक

(७७)

विंचमों	विच में

(७८)

जैसी	जैसे
मुए पिछे	मुवे पीछे

(९७)

चवीना	चवैना

(९९)

नहिं	नाहिं
किन्हीं	कीन्ही

भजनों का अनुक्रम

अकारादि क्रम से भजनों की सूचि

धर्मामृत

[भजनसंग्रह]

(१)

राग भैरव—तीन ताल

भोर भयो उठ जागो मनुवा,
साहेब नाम संभारो । भो० ॥ टेक ॥

सुतां सुतां रयन विहानी,
अब तुम नींद निवारो ॥

मंगलकारि अमृतवेला,
थिर चित्त काज सुधारो ॥ १ ॥

खिनभर जो तुं याद करेगो,
सुख निपजेगो सारो ॥

वेला वीत्यां हे पछतावो,
क्युं कर काज सुधारो ॥ २ ॥

घरव्यापारे दिवस वितायो,
राते नींद गमायो ॥

इन वेला निधि चारित्र आदर,
ज्ञानानंद रमायो ॥ ३ ॥

(२)

राग झिंझोटी—ताल दादरा

मेरे तो मुनि वीतराग,
चित्त मांहे जोई। मे० ॥ टेक ॥

और देव नाम रूप,
दूसरो न कोई ॥ १ ॥

साधन संग खेल खेल,
जाति पांत खोई।

अब तो वात फैल गई,
जाने सब कोई ॥ २ ॥

घाति करम भसम छाण,
देह में लगाई।

परम योग शुद्ध भाव,
खायक चित्त लाई ॥ ३ ॥

तंबू तो गगन भाव,
भूमि शयन भाई।

चारित नव निधि सरूप,
ज्ञानानंद भाई ॥ ४ ॥

(३)

दोहा

अब ही प्यारे चेत ले,
घर पूंजी संभारो ।
सहु परमाद तुं छांड दे,
निरखो कागल सारो ॥ टेक ॥

मगरुरी तुम मत करो,
नहीं परगल तुझ माया ।
पूंजी तो ओछी घणी,
व्यापार वधार्या ॥ १

गाफील होकर मत रहे,
पग देख फिलावो।
घटमें निधि चारित गहो,
ज्ञानानंद रमावो ॥ २ ॥

(४)

राग कौशिया—तीन ताल

या नगरी में क्युं कर रहना।
राजा लूट करे सो सहना॥ या० ॥ टेक॥

नहि व्यापार इहां कोइ चाले।
नहि कोइ घरमांहे गहना॥ या० १॥

तसकर पण निज दाव विचारे।
भेद निहाले फिर फिर रहना। २

नारी पंच सिपाई साथे।
रमण करे नित कुणसें कहना॥ या० ३॥

अंजलि जल जिम खरची खूटे।
आखर इग दिन हेगा परना। ४

यातें नवनिधि चारित संयुत।
इग ज्ञानानंद हेगा सरना॥ या० ५॥

(९)

राग विलावल, अथवा मल्हार—तीन ताल

साधो भाइ देखो नायक माया । सा० ॥ टेक ॥
पांच जातका वेस पहिराया, बहुविध नाटक खेल मचाया ॥सा०१॥

लाख चौराशी योनि मांहे, नाना रूपें नाच नचाया ।
चवदह राजलोक गत कुलमें, विविध भांति कर भाव दिखाया॥सा०२॥

अब तक नायक धायो नाहिं, हार गयो कहुं कुनसें भाया ।
यातें निधि चारित्र सहायें, अनुपम ज्ञानानंद पद भाया ॥सा०३॥

(६)

सोरठा

प्यारे चित्त विचार ले, तुं कहांसें आया ।
बेटा बेटी कवन हे, किसकी यह माया ॥ १ ॥

आवनो जावनो एकलो, कुण संग रहाया ।
पंथक होय कर जालमें, कैसें लपट्यो भाया ॥ २ ॥

नीसर जावो फंदसें, इग छिनमें भाया ।
जो निधि चारित आदरे, ज्ञानानंद रमाया ॥ ३ ॥

(७)

राग आशावरी—तीन ताल

अवधू सुता क्यां इस मठमें ॥ अ० ॥ टेक ॥

इस मठका हे कवन भरोसा, पड जावे चटपटमें ॥ अ० ॥
छिनमें ताता, छिनमें शीतल, रोग शोग वहु मठमें ॥ अ० १ ॥

पानी किनारे मठका वासा, कवन विश्वास ए तटमें । अ० ।
सूता सूता काल गमायो, अज हुं न जाग्यो तुं घटमें ॥ अ० २ ॥

घरटी फेरी आटो खायो, खरची न बांधी वटमें । अ० ।
इतनी सुनी निधि चारित्र मिलकर, ज्ञानानंद आए घटमें ॥अ०३॥

(८)

राग आशावरी—तीन ताल

बिनजारा खेप भरी भारी ॥ बि० ॥ टेक ॥

चार देसावर खेप करी तम, लाभ लह्यो बहु भारी । बि० ।
फिरतां फिरतां भयो तुं नायक, लाखी नाम संभारी ॥ बि० १ ॥

सहस लाख करोडां उपर, नाम फलायो सारी । बि० ।
बेटा पोतरा बहु घर कीना, जगमें संपत्त सारी ॥ बि० २ ॥

खूटी खरची लद गयो डेरो, पड गयो टांडो भारी । बि० ।
विन खरची तें कवन संभारे, टांडे की भइ खवारी ॥ बि० ३ ॥

पहेले देखी पग जो राखे, निधि चारित तुं धारी । बि० ।
ज्ञानानंद पद आदरतो, खरची होती सारी ॥ बि० ४ ॥

(९)

राग आशावरी—तीन ताल

योगी तेरा सूना मंदिर क्युं । योगी० ॥ टेक ॥
बहु महनत कर मंदिर चुनियो, अब नहीं बसता क्युं ॥ यो० १ ॥

तीरथ जल कर एहने धोया, भोग सुरभि दरव क्युं । योगी० ।
भसम भूत ए मंदिर उपर, घास लगाया क्युं ॥ योगी० २ ॥

राम नाम एक ध्यान में योगी, धूनी ज्युं की त्युं । योगी० ।
एह विचार करी भाइ साधो, नवनिधि चारित ल्युं योगी० ॥ ३ ॥

(१२)

राग कौशिया—तीन ताल

कुण जाणे साहेबका वासा, जिहां रहता हे साहिब साचा ।
कु० ॥ टेक ॥

साधु होय केइ जलमें बूडे, जिम मछली का है जलवासा ॥कु० १॥
बामण होय कर गाल बजावे, फेरे काठ की माल तमासा ।
गौमुखि हाथें होठ हलावे, तिणका साहिब जोवे तमासा ॥कु० २॥
मुल्लां होय कर बांग पुकारे क्या कोइ जाणे साहिब बहेरा ।
कीडी के पग नेउर वाजे, सो बी साहिब सुनता गहेरा ॥ कु० ३ ॥
कंठ काठ केइ मुहडो बांधे, काला चीवर पहरे तमासा ।
छोत अछोत का पानी पीवे, भक्ष अभक्ष भोजनकी आसा ॥कु०४॥
साधु भए असवारी बेसे, नृप पर नीति करे सुख खासा ।
पंचाग्नि केइ ताप तपत हे, देह खाख रासभ पर जासा ॥ कु० ५ ॥
आठ दरब आगल केइ राखे, देव नाम परसाद लगाता ।
घंट बजाडी आपहिं खावे, नितनित साहिब कुं दिखलाता ॥कु०६॥
सरवंगी जे सबकुं माने, अपनी अपनी मतिमें बहुरा ।
साहेब सब नटबाजी देखे, जग जन कारज वस भया बहुरा ॥कु०७॥
इमकर नहिं कोइ साहेब मिलता, जगमें पाखंड सबं ही कीता ।
चारित्र ज्ञानानंद विना नहीं, समजो जगमें तन कोइ मीता ॥कु०८॥

(१३)

राग धनाश्री—तीन ताल

(वालो माहरो) क्यैां भटके परवासा,
तुज मठ निरखो साहेब वासा। वा० ॥टेक॥

बिनु अनुभव ताकुं नहिं जाने,
देखे कैसें उजासा ॥ वा० १ ॥

नहिं मानस नहिं नारी साहिब,
नहिं नपुंसक आगम भासा।
पांचो रंग जाके नहिं दिसे,
तामे नहिं गंधरस का वास। ॥ वा० २ ॥

नहिं भारी नहिं हलका साहेब,
नहिं रूखा नहिं चिकनासा।
शीता ताता जाके न पावे,
अप्रतिबंध आगति गति जासा ॥वा० ३॥

कोइ संघयण जाके नहिं पावे,
नहिं कोइ संठाण निवासा।

जां देखे तां एक ही साहिब,
जग नभ परमित हे जसु वासा ॥ वा० ४॥

सो साहब तुं अपना मठ में,
निरखो थिर चित्त ध्यान सुवासा ।

चारित **ज्ञानानंद** निधि आदर,
ज्योतिरूप निज भाव विकासा ॥ वा० ५ ॥

(१८)

राग टोडी—तीन ताल

दूर रहो तम दूर रहो तम दूर रहो,
मोसुं तो तम दूर रहो री ॥ दू० टेक ॥

इतने दिन अमने दुःख दीधुं,
थारे संग कर सुख न लहो री ॥ दू० १ ॥

तीन लोक की ठगनी तूं ही,
तुज सम नहीं कोइ एहवो करे री ।
मीठो बोली हिरिदय पैसे,
लाड करे बहु भांत परे री ॥ दू० २ ॥

था हवे तावे सागर में तुं,
पाछे गोतो देय टरे री ।
तुज कुटिला का कवन भरोसा,
बोलत ही तुं घात करे री ॥ दू० ३ ॥

इहां सेती तुं दूर परी जा,
इहां थारी मति नांह लहे री ।
चारित ज्ञानानंद रखवालो,
अम प्यारी मोरे पास रहे री ॥ दू० ४ ॥

(१९)

राग कौशिया—तीन ताल

राम राम सब जगही माने,
राम राम को रूप न जाने ॥ रा० ॥ टेक ॥

कवण राम कुण नगरी वासो
कहांसे आयो किहां भयो वासो ॥रा० १॥

राम राम सहु जगमें व्यापी,
राम विना है कैसे आलापी । २ ॥

राम विना हे जंगलवासा,
पाछे कोइ जाकी न करे आसा ॥ रा० ३ ॥

राम हि राजा राम हि राणी,
राम राम हि हैरो तानि । ४ ॥

रटन करत हे कवन रामको,
कैसो रूप बतावो वाको ॥ रा० ५ ॥

जे केइ वाको रूप बतावे,
ते हि ज साचो मुज मन भावे । ६ ॥

सो निधि चारित ज्ञानानंदे,
जाने आपनो राम आनंदे ॥ रा० ७ ॥

(१६)

राग बीभास—तीन ताल

मंदिर एक बनाया हमने मंदिर एक बनाया रे ॥ टेक ॥

जिस मंदिर के दश दरवाजे; एक बुंदकी माया रे ।
नानो पंखी जाके अंतर, राज करे चित्त राजा रे ॥ मं० ॥ १ ॥

हाड मांस जाके नहिं दीसे, रूप रंग नहिं जाया रे ।
पंख न दीसे कहसे पिछानुं, षट रस भोगे भाया रे ॥ मं० ॥ २ ॥

जातो आतो नहिं कोइ देखे, नहिं कोइ रूप बतावे रे ।
सब जग खायो तो पण भूखो, तृप्ति कबहिं न पावे रे ॥ मं० ॥ ३ ॥

जाल्म पंखी ताल्म मंदिर, पाछे कोन बतावे रे ।
यह पंखीको जो कोइ जाने, सो ज्ञानानंद निधि पावे रे ॥ मं० ॥ ४॥

(१७)

राग खमाज—तीन ताल

इतना काम करे जे जोगी, सोइ योगने जाने रे ॥ इ० टेक ॥

मूंड मूंडाया भस्म लगाया, जोगी ना हम जाने रे ।
बक्तर पहेरी रणकुं जीते, सो योगी हम जाने रे ॥ इ० ॥ १ ॥

राजा वशकर पांचों जीते, दुर्धर दोयने मारे रे ।
चार काटके सोल पिछाडे, सोइ योग सुधारे रे ॥ इ० ॥ २ ॥

जागृत भावे सरव समय रहे, परम चारित्र कहावे रे ।
ज्ञानानंद लहेर मतवाला, सो योगी मन भावे रे ॥ इ० ॥ ३ ॥

(१८)

राग आसा (मांड)—तीन ताल

वा दिनकुं नहिं जाना अबतक, कैसा ध्यान लगाया रे॥ वा० टेक॥

जटा वधारी भस्म लगाइ, गंगा तीर रहाया रे।
ऊरध बाह आतापना लेई, योगी नाम धराया रे ॥ वा० ॥ १ ॥

चार वेद ध्वनि सूत धार कर, बामण नाम धराया रे
शासतर पढके झगडे जीते, पंडित नाम रहाया रे ॥ वा० ॥ २ ॥

सुन्नत करके अल्ला बंदे, सीया सुन्नी कहाया रे।
वाको रूप न जाने कोइ, नवि केइ बतलाया रे ॥ वा० ॥ ३ ॥

जे केइ वाको रूप पहिचाने, तेहि ज साच जनाया रे।
ज्ञानानंद निधि अनुभव योगें, ज्ञानी नाम सुहाया रे॥ वा० ॥ ४ ॥

(१९)

राग धनाश्री—तीन ताल

ऐसो योग रमावो साधो, ऐसो योग रमावो रे ॥ ऐ० ॥ टेक ॥

बरम विभूति अंग रमावो, दयातीर मन भावो रे ।
ज्ञान शोचतां अंतर घटमें, आतम ध्यान लगावो रे ॥ ऐ० ॥ १ ॥

धरम शुकल दोय मुंदरा धारो, कनदोरो सम सारो रे ।
सुभ संयम कोपीन बिचारो, भोजन निरजरा धारो रे ॥ ऐ० ॥ २ ॥

अनुभव प्याला प्रेम मसाला, चाख रहे मतवाला रे ।
ज्ञानानंद लहेरमें जूले, सो योगी मदवाला रे ॥ ऐ० ॥ ३ ॥

(२०)

राग वसंत—तीन ताल

मैं कैसे रहुं सखी, पिया गयो परदेशो ॥ मैं० ॥ टेक ॥
रितु वसंत फूली वनराइ, रंग सुरंगीत देशो ॥ १ ॥

दूर देश गये लालची वालम, कागळ एको न आयो ।
निर्मोही निस्नेही पिया मुझ, कुण नारी लपटायो ॥ २ ॥

वसंत मासनी रात अंधारी, कैसे विरह वुझाया ।
इतने निधि चारित्र पुत वल्लभ, ज्ञानानंद घर आयो ॥ ३ ॥

(२१)

राग वसंत—तीन ताल

मेरे पिया की निशानी मोरें हाथ न आवे ।। मे० टेक ।।
रूपी कहुं तो रूप न दीसे, कैसे करी बतलावे ।। मे० ।। १ ।।

जोती सरूपी तेह विचारुं, करम बंध कैसें भावे ।
सिद्ध सनातन उपजन विनसन, कैसें विचार सुहावे ।। मे० ।। २ ।।

वेद पुरान में नहि कहि दीसे, किण परभाव रमावे ।
यातें चारित ज्ञानानंदी, एकहिं रूप कहावे ।। मे० ।। ३ ।।

(२२)

राग सारंग—तीन ताल

क्यों कर महिल बनावे पियारे ॥ क्यों० ॥ टेक ॥
पांच भूमिका महल बनाया, चित्रित रंग रंगावे पियारे ॥ क्यों० १॥

गोखें बेठो नाटिक निरखे, तरुणी रस ललचावे ।
एक दिन जंगल होगा डेरा, नहिं तुज संग कछु जावे पियारे ॥
क्यों० ॥ २ ॥

तीर्थंकर गणधर बल चक्रि, जंगल वास रहावे ।
तेहना पण मंदिर नहिं दीसे, थारी कवन चलावे पियारे ॥ क्यों० ३॥

हरि हर नारद परमुख चल गए, तूं क्यों काल वितावे ।
तिनतें नवनिधि चारित आदर, ज्ञानानंद रमावे पियारे ॥क्यों० ४॥

(२३)

राग गौड सारंग—तीन ताल

क्या मगरूरी बतावे पियारे ॥ टेक ॥

अपनी कहा चलावे ॥ पि० टेक ॥

कवन देश कुण नगरी सें आया,
कहां तुज वास रहावे ॥ पि० ॥ १ ॥

कहा जिनस तुम लाए मगरू, किस विध काल बितावे ॥ २ ॥

कहा जाने का मकसद होगा, कैसो विचार रहावे ॥ पि० ॥ ३ ॥

चार दिनांकी चांदनी हेगी, पाछे अंधार बतावे ॥ ४ ॥

घर घर फिरतां थारा हिं मानस, अंगुलीयां दिखलावे ॥ ५ ॥

तिनतें तुं मगरूरी छांडी, जग सम समता लावे ॥ ६ ॥

तो नवनिध चारित्र सहायें, ज्ञानानंद पद पावे ॥ पि० ॥ ७ ॥

(२८)

राग सोरठ

कोइ योगी हमकुं जाने री, मेरो कोइ नामकुं जान ॥ को० टेक ॥
मानस नहि हम नारि नहि, नाहि नपुंसक जान ॥ को० १ ॥

दादा बाबा नहि हम काका, ना हम कुण के बाप । को० ।
नाना मामा हम नहि मासा, कोइसें नहि आलाप ॥ को० २ ॥

बेटा पोतरा गोलक नहिं, नाती दुहिता न जान । को० ।
दादी चाची बेटी पोती, ना हम नारी मान ॥ को० ३ ॥

गुरु चेला नहि हम काहूके, योगी भोगी नांह । को० ।
पांच जातमें नहि हम कोइ, नहिं कोइ कुल छांह ॥ को० ४ ॥

दरशन ज्ञानी चिद्घन नामी, शिव वासी हम जान । को० ।
चारित्र नवनिध अनुपम मूरती, ज्ञानानंद सुजान ॥ को० ५ ॥

(२८)

राग सोरठ

बड़ि दगाबाज रे, तूं बडि दगाबाज प्यारी, तूं बड़ि दगाबाज ॥ टेक

तेरे खातर डूंगर दरी बिच, रही दुःख सह्यो में अपार ।
हांसी खूसी बहु नातरां कीधां, तूं कांइ भूलि गवार ॥ तूं० १ ॥

कवडी साटे तेरे खातर, माहरो कीधो मोल ।
धूंढक योगी यति संन्यासी, मुंडित कियो ते रोल ॥ तूं० २ ॥

मुहडो बांधी कान ते फाडी, बहु विध वेस कराय ।
दान करी सहु पाखंड कीधां, जन लूंटचो मन भाय रे ॥ तूं० ३ ॥

घर घर भटक्यो तेरे साथे, पोते पाप भराय ।
अब तूं काह न बोले मोसुं, तुं कपटीनी दिखलाय ॥ तूं० ४ ॥

ऐसो देखी भयो हुं ऊदासी, निधि चारित्र लहाय ।
ज्ञानानंद चेतनमय मूरति, ध्यान समाधि गहाय ॥ तूं० ५ ॥

(२६)

राग गौड मल्हार—तीन ताल

प्यारे साहेब सुं चित्त लावो रे, साहेब दूर कइ लावो रे ॥ प्या० टेक
साहेव एक ही हे जग व्यापो, नहि कहे भेद लहावे रे । प्या० १ ॥

जे केइ साहेब भेद बतावे, ते बहुरा जग पावे ।
पारसनाथ कहे कोइ बरमा, विष्णु शिव कहेलावे रे ॥ प्या० २ ॥

ध्यान ध्येय इग पारस रूप, ज्योति रूप बरम भावे ।
केवलान्वयी ज्ञानी ते विष्णु, शिववासी शिव भावे रे ॥ प्या० ३ ॥

जोति रूप साहेब तो इग ही, तिनसुं ध्यान लगावो ।
निधि चारित्र ज्ञानानंद मूरति, ध्यान समाधि समावो रे ॥ प्या० ४ ॥

(२७)

राग मल्हार—तीन ताल

देखो पिया आगम जहवेरी आयो, नाना भूखन लायो ॥ दे० टेक ॥

विनय कनकनो घाट बनायो, संयम रतन लगायो ।
निरमल ज्ञान को हीरक बिच में, दरशन मानक भायो ॥ दे० १ ॥

खायक वैडूर्यनी पंगति, मौक्तिक ध्यान लगायो ।
समिति गुपति लीलम विद्रुम जिहां, शेष तत्व कहलायो ॥ दे० २॥

ए सहु भूषण मोल अमोला, निरखत चित्त लोभायो ।
हरखें निधि चारित्त निहालो, ज्ञानानंद रमायो ॥ दे० ३ ॥

(२८)

राग गौड सारंग—तीन ताल

ज्ञान की दृष्टि निहालो, वालम, तुम अंतर दृष्टि निहालो । वा० टेक॥

बाह्य दृष्टि देखे सो मूढा, कार्य नहि निहालो ।
धरम धरम कर घर घर भटके, नाहि धरम दिखालो ॥ वा० १ ॥

बाहिर दृष्टि योगवियोगे, होत महामतवालो ।
कायर नरे जिम मदमतवालो, सुख विभाव निहालो ॥ वा० २ ॥

बाहिर दृष्टि योगें भवि जन, संसृति वास रहानो ।
तिनतें नवनिधि चारित आदर, ज्ञानानंद प्रमानो ॥ वा० ३ ॥

(३१)

राग जयजयवंती—एक ताल मात्रा ६

सजन सलूने लाल, चरन न छोरुं ताल।
मेरे तो अजब माल, तेरो इ भजन हे ॥ १ ॥

दोलत न चाहुं दाम, कामसुं न मेरे काम।
नाम तेरो आठो जाम, जिउ को रंजन हे ॥ २ ॥

तेरो हुं आधीन लीन, जल ज्युं मगन मीन।
तीन जग केरो प्रभु, दुःख को भंजन हे ॥ ३ ॥

नाभि मरुदेवा नंद, नयन आनंद चंद।
चरन **विनय** तेरो, अमिय को अंजन हे ॥ ४ ॥

(३२)

राग भूपाल तथा गोडी–तीन ताल

प्यारे काहेकुं ललचाय ॥ टेक ॥

या दुनियां का देख तमासा, देखत ही सकुचाय ॥ प्या० १ ॥

मेरी मेरी करत हे बाउरे, फीरे जिउ अकुलाय ।
पलक एक में बहुरि न देखे, जल बुंद की न्याय ॥ प्या० २ ॥

कोटि विकल्प व्याधि की वेदन, लही शुद्ध लपटाय ।
ज्ञान कुसुम की सेज न पाइ, रहे अघाय अघाय ॥ प्या० ३ ॥

किया दोर चिहुं ओर जोरसे, मृगतृष्णा चित्त लाय ।
प्यास बुजावन बुंद न पायो, यौंहि जनम गुमाय ॥ प्या० ४ ॥

सुधा सरोवर हे या घटमें, जिसतें सब दुःख जाय ।
विनय कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाउ दिल ठाय ॥ प्या० ५ ॥

(३३)

राग छाया नट—तीन ताल

थिर नांहि रे थिर नांहि, यावत धन यौवन थिर नांहि ।
पलक एकमें छेह दिखावत, जैसी बादल की छांहि ॥ थिर० ॥ १

मेरे मेरे कर मरत बिचारे, दुनियां अपनी करी चाही ।
कुलटा स्त्री ज्यौं उलटा होवे, या साथ किसीके ना याहि ॥ थिर० २ ॥

कहे दुनियां कहा हसे बाउरे, मेरी गति समजों नांहि ।
केते ही छोरे में प्यासे, केते ओर गहे बांहि ॥ थिर० ३ ॥

सयन सनेह सकल हे चंचल, किस के सुत किसकी माइ ।
रितु बसंत शिर रुख पात ज्यौं, जाय परोगे को कांही ॥ थिर० ४ ॥

अजरामर अकलंक अरूपी, सब लोगनकुं सुखदाइ ।
विनय कहे भय दुःख बंधन ते, छोडनहार वे सांइ ॥ थिर० ५ ॥

(३४)

राग बिहागडो

मन न काहु के वश मन कीए सब वश,
मन की सो गति जाने या को मन वश हे ॥ १ ॥

पढो हो बहुत पाठ तप करो जैने पाहार,
मन वश कीए बिनु तप जप बश हे ॥ २ ॥

काहेकुं फीरे हे मन काहु न पावेगो चेन,
विषय के उमंग रंग कछु न दुरस हे ॥ ३ ॥

सोऊ ज्ञानी सोऊ ध्यानी सोउ मेरे जीया प्रानी,
जिने मन वश कियो वाहिको सुजश हे ॥ ४ ॥

विनय कहे सौ धनु याको मनु छिनु छिनु,
सांइ सांइ सांइ सांइ सांइसें तिरस हे ॥ ५ ॥

(३५)

राग काफी

किसके चेले किसके पूत, आतमराम अकिला अवधूत ।
जिऊ जान ले ॥
अहो मेरे ज्ञानी का घर सुत, जिऊ जान ले, दिल मान ले ॥१॥

आप सवारथ मिलिया अनेक, आए इकेला जावेगा एक ॥
जि० दि० ॥ २ ॥

मढी गिरंदकी झूठे गुमान, आजके काल गिरेंगी निदान
जि० दि० ॥ ३ ॥

तीसना पावडली बर जोर, बावु काहेकुं साचो गोर ॥
जि० दि० ॥ ४ ॥

आगि अंगिठी नावेगी साथ, नाथ रमोगे खाली हाथ ॥
जि० दि० ॥ ५ ॥

आशा झोली पत्तर लोभ, विषय भिक्षा भरी नायो थोभ ॥
जि० दि० ॥ ६ ॥

करमकी कंथा डारो दूर, **विनय** विराजो सुख भरपूर ॥
जि० दि० ॥ ७ ॥

(३६)

राग आशावरी—तीन ताल

जोगी एसा होय फरुं, परम पुरुष शुं प्रीत करुं ओरसें
प्रीत हरुं ॥ १ ॥

निर्विषय की मुद्रा पहेरुं, माला फीराउं मेरा मनकी ।
ग्यान ध्यान की लाठी पकरुं, भभूत चढाउं प्रभु गुनकी ॥ २ ॥

शील संतोष की कंथा पहेरुं, विषय जलावुं धूणी ।
पांचुं चोर पेरें करी पकरुं, तो दिलमें न होय चोरी हुंणी ॥ ३ ॥

खबर लेउं में खिजमत तेरी, शब्द सींगी बजाउं ।
घट अंतर निरंजन बेठे, वासुं लय लगाउं ॥ ४ ॥

मेरे सुगुरुने उपदेश दिया हे, निरमल जोग बतायो ।
विनय कहे में उनकुं ध्याऊं, जिने शुद्ध मारग दिखायो ॥ ५ ॥

(३७)

राग गोडी—तीन ताल

तोलों वेर वेर फिर आवेंगे, जीउ जीवन मेरे प्यारे पियुको,
जो जो सोज न पावेंगे ॥ तो० १ ॥

बिरह दिवानी फिरुं हुं ढुंढती, सेज न साज सुहावेंगे ।
रूप रंग जोबन मेरी सहियो, पियु बिन कैसे देह दिखावेंगे ॥तो०२॥

नाथ निरंजन के रंजन कु, बोत सिणगार बनावेंगे ।
कर ले बीना नाद नगीना, मोहन के गुन गावेंगे ॥ तो० ३ ॥

देखत पियुकुं मणि मुगताफल, भरी भरी थाल बधावेंगे ।
प्रेम के प्याले ज्ञाननी चाले, विरह की प्यास बुझावेंगे ॥ तो०४॥

सदा रही मेरे जिउ में पिउजी, पिउमें जिउ मिलावेंगे ।
विनय ज्योतिसें ज्योत मिलेगी, तब इहां वेह न आवेंगे ॥ तो०५॥

(३८)

राग रामकली—तीन ताल

अब क्युं न होत उदासी, हो आतम। अब क्युं न०॥ए आंकणी
उलट पलट घट घेरी रही हे, क्युं तुम आशा दासी हो० ॥१॥

निसि बासर उनसुं तुम खेलो, होत खलकमां हांसी।
छोरो विषम विषय की आशा, ज्युं निकसें भव फांसी॥ हो० ॥२॥

पूरण भई न कबहीं किसकी, दुरमति देत विसासी।
जो छोरी नहीं सोबत इनकी, तो कहा भये संन्यासी ॥हो०॥३॥

रूठ रही सुमति पटराणी, देखो हृदय विमासी।
मुंझ रहे हो क्या माया में, अंते छोरी तुम जासी॥ हो० ॥४॥

आश करो एक **विनय** विचारी, अविचल पद अविनासी।
आशा पूरण एक परमेसर, सेवो शिवपुरवासी॥ हो० ॥ ५ ॥

रार

तोलें वेर बेर फिर

विरह दिवानी फिरुं
रूप रंग जोबन मेरी स

नाथ निरंजन के रंज
कर ले वीना नाद न

देखत पियुकुं मणि
प्रेम के प्याले ज्ञान

सदा रही मेरे जिउ
विनय ज्योतिसें ज्ये

(४०)

परम पुरुष तुंहि अकल अमूरति युंही,
अकल अगोचर भूप, बरन्यो न जात हे ॥ परम० ॥ १ ॥टेक॥

तिन जगत भूप, परम वल्लभ रूप,
एक अनेक तुंही गिन्यो न गिनात हे ॥ परम० ॥ २ ॥

अंग अनंग नांहिं, त्रिभुवन को तुं सांइ,
सब जीवन को सुखदाइ, सुख में सोहात हे ॥ परम० ॥ ३ ॥

सुख अनंत तेरो, ग्रह्यो हु न आवे घेरो,
इन्द्र इन्द्रादिक हेरो, तो हुं नहिं पात हे ॥ परम० ॥ ४ ॥

तुंही अविनाशी कहायो, लखेमें न का नहीं आयो।
विनय करी जो चायो, ताकुं प्रभु पायो हे ॥ परम० ॥ ५ ॥

(४३)

राग धन्याश्री—तीन ताल

परमगुरु जैन कहो क्यों होवे, गुरु उपदेश विना जन मूढा,
दर्शन जैन विगोवे ॥ परमगुरु जैन कहो क्यों होवे ॥ टेक ॥१॥

कहत कृपानिधि समजल झीले, कर्म मयल जो धोवें ।
बहुल पाप मल अंग न धारे, शुद्ध रूप निज जोवे ॥ प० २ ॥

स्यादवाद पूरन जो जाने, नयगर्भित जस वाचा ।
गुन पर्याय द्रव्य जो बूझे, सोइ जैन हे साचा ॥ प० ॥ ३ ॥

क्रिया मूढमति जो अज्ञानी, चालत चाल अपूठी ।
जैन दशा ऊनमें ही नाही, कहे सो सब ही जूठी ॥ प० ४ ॥

पर परनति अपनी कर माने, किरिया गर्वे घेहेलो ।
उनकुं जैन कहो क्युं कहिये, सो मूरखमें पहिलो ॥ प० ॥ ५ ॥

ज्ञानभाव ज्ञान सब मांही, शिव साधन सर्दहिए ।
नाम भेखसें काम न सीझे, भाव ऊदासे रहिए ॥ प० ॥ ६ ॥

ज्ञान सकल नय साधन साधो, क्रिया ज्ञानकी दासी ।
क्रिया करत धरतु हे ममता, याहि गले में फांसी ॥ प० ७ ॥

क्रिया बिना ज्ञान नहिं कबहुं, क्रिया ज्ञान बिनु नांही ।
क्रिया ज्ञान दोऊ मिलत रहतु हे, ज्यों जल रस जल मांही ॥ प० ८ ॥

क्रिया मगनता बाहिर दीसत, ज्ञानशक्ति जस भांजे ।
सदगुरु शीख सुने नहीं कब हुं, सो जन जनतें लाजे ॥ प० ९ ॥

तत्त्वबुद्धि जिनकी परनति हे, सकल सूत्र की कूंची ।
जग जसवाद वदे उनहा को, जैन दशा जस उंची ॥ प० १० ॥

(४४)

राग धन्याश्री—तीन ताल

परम प्रभु सब जन शब्दें ध्यावे ॥
जब लग अंतर भरम न भांजे, तब लग कोउ न पावे ॥ प० १ ॥

सकल अंस देखे जग जोगी, जो खिनु समता आवे ।
ममता अंध न देखे याको, चित्त चिहुं उरे ध्यावे ॥ प० २ ॥

सहज शक्ति अरु भक्ति सुगुरु की, जो चित्त जोग जगावे ।
गुन पर्याय द्रव्य सुं अपने, तो लय कोउ लगावे ॥ प० ३ ॥

पढत पूरान वेद अरु गीता, मूरख अर्थ न भावे ।
इत उत फरत ग्रहत रस नाही, ज्यों पशु चर्वित चावे ॥ प० ४ ॥

पुद्गल सें न्यारो प्रभु मेरो, पुद्गल आप छिपावे ।
उनसें अंतर नहीं हमारे, अब कहां भागो जावे ॥ प० ५ ॥

अकल अलख अज अजर निरंजन, सो प्रभु सहज सुहावे ।
अंतरजामी पूरन प्रगट्यो, सेवक जस गुन गावे ॥ प० ॥ ६ ॥

(६५)

राग विहाग—तीन ताल

चेतन जो तुं ज्ञान अभ्यासी ।
आपहि बांधे आपहि छोडे, निज मति शक्ति विकासी ॥ चे० ॥
१ ॥ टेक ॥

जो तुं आप स्वभावे खेले, आशा छोरी उदासी ।
सुर नर किन्नर नायक संपति, तो तुझ घरकी दासी ॥ चे० ॥ २ ॥

मोह चोर जन गुन धन लुसे, देत आस गल फांसी ।
आशा छोर उदास रहेजो; सो उत्तम संन्यासी ॥ चे० ॥ ३ ॥

जोग लइ पर आस धरत हे, याही जगमें हांसी ।
तुं जाने में गुन कुं संचुं, गुन तो जावे नासी ॥ चे० ॥ ४ ॥

पुद्गल की तुं आस धरत हे, सो तो सबहिं विनासी ।
तुं तो भिन्न रूप हे उनतें, चिदानन्द अविनासी ॥ चे० ॥ ५ ॥

धन खरचे नर बहुत गुमाने, करवत लेवे कासी ।
तो भी दुःख को अन्त न आवे, जो आसा नहीं घासी ॥ चे० ६ ॥

सुख जल विषम विषय मृगतृष्णा, होत मूढमति प्यासी ।
विभ्रम भूमि भइ पर आसी, तुं तो सहज विलासी ॥ चे० ७ ॥

याको पिता मोह दुःख भ्राता, होत विषय रति मासी ।
भवसुत भरता अविरति प्रानी, मिथ्या मति ए हांसी ॥ चे० ८ ॥

आसा छोर रहेजो जोगी, सो होवे सिव वासी ।
उनको **सुजस** बखाने ज्ञाता, अंतर दृष्टि प्रकासी ॥ चे० ९ ॥

(४६)

राग सारंग—तीन ताल

जिऊ लाग रह्यो परभाव में, टेक ॥
सहज स्वभाव लखे नहिं अपनो, परियो मोह जंजाल में ।जि०१॥

बंछें मोक्ष करे नहि करनी, दोलत ममता बाउ में ।
चहे अंध ज्युं जलनिधि तरवो, वेठो कांणे नाऊ में ॥ जि० ॥२॥

अरति पिशाची परवश रहेतो, खिन हुं न समरयो आउ में ।
आप बचाय सकत नहि मूरख, धोर विषय के धाउ में ॥जि०३॥

पूर्व पुण्य धन सबहि ग्रसत हे, रहत न मूल बढाऊ में ।
तामें तुज केसे बनी आवे, नय व्यवहार के दाउ में ॥ जि०४॥

जस कहे अब मेरो मन लीनो, श्री जिनवर के पाउ में ।
याहि कल्यान सिद्धि को कारन, ज्युं वेधक रस खाउ में ॥जि०५

(४७)

राग देवगंधार—तीन ताल

देखो माइ अजब रूप जिनजी को ॥ देखो० ॥ टेक ॥
उनके आगे और सबन को,
रूप लगे मोहि फीको ॥ देखो० ॥ १ ॥

लोचन करुना अमृत कचोले, मुख सोहे अति नीको ।
कवि **जसविजय** कहे यों साहिब,
नेमजी त्रिभुवन टीको ॥ देखो० ॥ २ ॥

(४८)

राग धन्याश्री—तीन ताल

जब लग आवे नहिं मन ठाम ॥ टेक ॥
तब लग कष्ट क्रिया सवि निष्फल, ज्यों गगने चित्राम ॥ ज० १ ॥

करनी बिन तुं करेर मोटाइ, ब्रह्मव्रती तुझ नाम ।
आखर फल न लहेगो ज्यों जग, व्यापारी विनु दाम ॥ ज० २ ॥

मुंड मुंडावत सबहि गडरिया, हरिण रोझ वन धाम ।
जटाधार वट भस्म लगावत, रासभ सहतु हे घाम ॥ ज० ३ ॥

एते पर नहीं योगकी रचना, जो नहि मन विश्राम ।
चित अंतर पट छलवेकुं चिंतवत, कहा जपत मुख राम ॥ ज० ४ ॥

वचन काय गोपें दृढ़ न धरे, चित्त तुरंग लगाम ।
तामे तुं न लहे शिव साधन, जिउ कण सुने गाम ॥ ज० ५ ॥

पढो ज्ञान धरो संजम किरिया, न फिरायो मन ठाम ।
चिदानंदघन सुजस विलासी, प्रगटे आतमराम ॥ ज० ६ ॥

(४९)

राग विहाग—तीन ताल

चेतन अब मोहि दर्शन दीजे ॥ टेक ॥
तुम दर्शन शिव सुख पामीजे,
तुम दर्शन भव छीजे ॥ चेतन० ॥ १ ॥

तुम कारन तप संयम किरिया, कहो कहांलों कीजे ।
तुम दर्शन बिनु सब या जुठी, अन्तर चित्त न भीजे ॥चेतन०॥२॥

क्रिया मूढमति कहे जन केइ, ज्ञान ओर कुं प्यारो ।
मिलत भाव रस दोउ न भाखे, तुं दोनु तें न्यारो ॥चेतन०॥३॥

सब में हे ओर सब में नांही, पूरन रूप एकेलो ।
आप स्वभावे वे क्रिम रमतो, तुं गुरु अरु तुं चेलो ॥ चेतन०॥४॥

अकल अलख प्रभु तुं सब रूपी, तुं अपनी गति जाने ।
अगम रूप आगम अनुसारे, सेवक सुजस वखाने ॥चेतन०॥५॥

(५०)

राग सोहनी—तीन ताल

चिदानन्द अविनासी हो, मेरो चिदानन्द अविनासी हो ॥ टेक ॥
कोर मरोर करम की मेटे, सहज स्वभाव विलासी हो॥चिदानन्द०॥१॥

पुद्गल मेल खेल जो जगको, सो तो सबहि विनासी हो ।
पूरन गुन अध्यातम प्रगटें, जागे जोग उदासी हो ॥ चिदा० ॥२॥

नाम भेख किरियाकुं सब हो, देखे लोक तमासी हो ।
चिन मूरत चेतन गुन चिने, साचो सोउ संन्यासी हो ॥ चिदा०॥३॥

दोरी देवारकी किति दोरे, मत व्यवहार प्रकासी हो ।
अगम अगोचर निश्चय नय की, दोरी अनंत अगासी हो ॥चिदा०॥४॥

नाना घट में एक पिछाने, आतमराम उपासी हो ।
भेद कल्पना में जड भूल्यो, लुब्ध्यां तृष्णा दासी हो ॥चिदा०॥५॥

धर्मसिद्धि नव निधि हे घट में, कहां ढुंढत जइ काशी हो ।
जस कहे शान्त सुधारस चाख्यो,पूरन ब्रह्म अभ्यासी हो॥चिदा०॥६॥

(५१)

राग केदारो—तीन ताल

में कीनो नही तो बिन ओरसुं राग ॥ टेक ॥

दिन दिन वान चढे गुन तेरो, ज्युं कंचन पर भाग ।
ओरन में हे कषायकी कलिका, सो क्युं सेवा लाग ॥ में० १ ॥

राजहंस तुं मानसरोवर, ओर अशुचि रुचि काग ।
विषय भुजंगम गरुड तुं कहियें, ओर विषय विषनाग ॥ में० २ ॥

ओर देव जल छीलर सरिखे, तुं तो समुद्र अथाग ।
तुं सुरतरु जगवंछित पूरन, ओर तो सुको साग ॥ में कीनो० ३ ॥

तुं पुरुषोत्तम तुंहि निरंजन, तुं शंकर वड भाग ।
तुं ब्रह्मा तुं बुद्धि महाबल, तुं हि देव वीतराग ॥ में कीनो० ४ ॥

सुविधिनाथ तुज गुन फूलन को, मेरो दिल हे बाग ।
जस कहे भमर रसिक होइ तामें लीजें भक्ति पराग ॥ में० ५ ॥

(५२)

सज्जन राखत रीति भली, बिनु कारण उपकारी उत्तम ।
जाइ सहज मिलि, दुर्जन की मन परिनति काली, जैसी होय
गली ॥ स० १ ॥

ओरन को देखत गुन जगमें, दुर्जन जाये जली ।
फल पावे गुन गुनको ज्ञाता, सज्जन हेज हली ॥ स० २ ॥

ऊंच इति पद बेठो दुर्जन, जाइ नाहिं वली ।
ऊपगृह ऊपर वेठी मीनी, होत नहीं उजली ॥ स० ३ ॥

विनय विवेक विचारत सज्जन, भद्रक भाव भली ।
दोष लेश जो देखे कब हूं, चाले चतुर टली ॥ स० ४ ॥

अब में ऐसो सज्जन पायो, ऊनकी रीत भली ।
श्री नयविजय सुगुरु सेवातें, सुजस रंग रली ॥ स० ५ ॥

(५३)

छन्द (सवैया)

आज आनन्द भयो, प्रभु को दर्शन लह्यो ।
रोम रोम सीतल भयो, प्रभु चित्त आयो हे ॥ आ० ॥

मन हुं ते धारया तो हे, चल के आयो मन मोहे,
चरण कमल तेरो मन में ठहरायो हे ॥ आ० १ ॥

अकल अरूपी तुंही, अकल अमूरति योहीं ।
निरख निरख तेरो, सुमति शुं मिलायो हे ॥ आ० ॥

सुमति स्वरूप तेरो, रंग भयो एक अनेरो,
वाइ रंग आत्मप्रदेशो, **सुजस** रंगायो हे ॥ आ० २ ॥

(५४)

बाद बादीसर ताजे, गुरु मेरो गच्छ राजे ।
पंच महाव्रत जहाज, सुधर्मा ज्युं सवायो हे ॥ वा० १ ॥

विद्या को बडो प्रताप संग, जल ज्युं उठत तुरंग ।
निरमल जेसो संग समुद्र कहायो हे ॥ बा० २ ॥

सत्त समुद्र भर्‌यो, धरम पोत तामें तर्‌यो ।
शील सुखान वालम, क्षमा लंगर डार्‌यो हे ॥ वा०३॥

सहड संतोष करी, तपतो तपी द्या भरी ।
ध्यान रंजक धरी, देत मोला ग्यान चलायो हे ॥ वा० ४॥

एसो झहाज क्रिया काज, मुनिराज साज सजो ।
दया मया मणि माणिक, ताहि में भरायो हे ॥ वा० ५ ॥

पुण्य पवन आयो, **सुजस** झहाज चलायो ।
प्राणजीवन एसो माल, घर बेठे पायो हे ॥ वा० ६ ॥

(५५)

जो जो देखे वीतरागने, सो सो होशे वीरा रे।
बिन देखे होसे नहीं कोइ, कांइ होय अधीरा रे ॥ जो० १ ॥

समय एक नहीं घटसी जो, सुख दुःख की पीडा रे।
तुं क्युं सोच करे मन कूडा, होवे वज्र जो हीरा रे ॥ जो० २ ॥

लगे न तीर कमान वान, क्युं मारी सके नहीं मिरा रे।
तुं संभारे पुरुष बल अपनो, सुख अनंत तो पीरा रे ॥ जो० ३ ॥

नयन ध्यान धरो वा प्रभु को, जो टारे भव भीरा रे।
जस सचेतन धरम निज अपनो, जो तारे भव तीरा रे ॥ जो० ४ ॥

(५६)

राग देस—तीन ताल

भजन बिनुं जीवित जेसे प्रेत, मलिन मंद मति डोलत घर घर,
उदर भरन के हेत ॥ भ० १ ॥

दुर्मुख वचन बकत नित निंदा, सज्जन सकल दुःख देत ।
कब हुं पाप को पावत पैसो, गाढे धुरिमें देत ॥ भ० २ ॥

गुरु ब्रह्मन अचुत जन सज्जन, जात न कवण निवेत ।
सेवा नहीं प्रभु तेरी कब हुं, भुवन नील को खेत ॥ भ० ३ ॥

कथे नहीं गुन गीत सुजस प्रभु, साधन देव अनेत ।
रसना रस विगारो कहां लें, बुडत कुटुंब समेत ॥ भ० ४ ॥

(८७)

राग—कानडो

ए परम ब्रह्म परमेश्वर, परम आनंद मयि सोहायो ।
ए परताप की सुख संपती बरनीं न जात मोपें,
ता सुख अलख कहायो ॥ ए० १ ॥

ता सुख ग्रहवे कुं मुनि मन खोजत, मन मंजन कर ध्यायो ।
मन मंजरी भइ, प्रफुल्लित दसा भइ, तापर भमर लोभायो ॥ए०२॥

भमर अनुभव भयो, प्रभु गुण वास लह्यो ।
चरन करन तेरो अलख लखायो ।
एसी दशा होत जब, परम पुरुष तब, पकरत पास पठायो ॥ए० ३॥

तब सुजस भयो, अंतरंग आनंद लह्यो ।
रोम रोम सीतल भयो, परमात्म पायो ।
अकल स्वरूप भूप, कोऊ न परखत कूप, सुजस प्रभु चित आयो॥ए०

(५८)

राग कालिंगडो—तीन ताल

माया कारमी रे, माया म करो चतुर सुजाण ।

माया वायो जगत वलुधो, दुःखियो थाय अजान ॥
जे नर मायायें मोहि रह्यो, तेने सुप्नें नहो सुख ठाम ॥ माया० १ ॥

न्हाना मोटा नरने माया, नारी ने अधकेरी ।
चली विशेषें अधकी माया, गरढाने जाजेरी ॥ माया० २ ॥

माया कामण माया मोहन, माया जग धूतारी ।
मायाथी मन सहुनुं चलीयुं, लोभीने बहु प्यारी ॥ माया० ३ ॥

माया कारन देश देशान्तर, अटवी वनमां जाय ।
जहाज बेसीने द्वीप द्वीपान्तरे, जइ सायर जंपलाय ॥ माया० ४ ॥

माया मेली करी बहु भेली, लोभे लक्षण जाय ।
भयथी धन धरतीमां गाडे, उपर विसहर थाय ॥ माया० ५ ॥

योगी जति तपसी संन्यासी, नग्न थइ परवरिया ।
ऊंधे मस्तक अग्नि तापें, मायाथी न उगरिया ॥ माया० ६ ॥

शिवभूति सरिखो सत्यवादी, सत्यघोष कहेवाय।
रत्न देखी तेनुं मन चलियुं, मरीने दुर्गति जाय॥ माया० ७॥

लब्धिदत्त मायायें नडियो, पडियो समुद्र मोझार।
मुख माखनीयो थईने मरियो, पोतो नरक मोझार॥ माया० ८॥

मन वचन कायायें माया, मूकी वनमां जाय।
धन धन ते मुनीश्वर राया, देव गांधर्व जस गाय॥ माया० ९॥

(५९)

कब घर चेतन आवेंगे मेरे, कब घर चेतन आवेंगे ॥ टेक ॥
सखिरि लेवुं बलैया बार बार ॥ मेरे कब० ॥
रेन दीना मानु ध्यान तुंसाढा, कबहुं के दरस देखावेंगे॥मेरे कब०॥१॥

विरह दीवानी फिरुं ढूंढती, पीउ पीउ करके पोकारेंगे ।
पिउ जाय मले ममता से, काल अनंत गमावेंगे ॥ मेरे कब० ॥ २ ॥

करुं एक उपाय में उधम, अनुभव मित्र बोलावेंगे ।
आय उपाय करके अनुभव, नाथ मेरा समझावेंगे ॥ मेरे कब०॥३ ॥

अनुभव मित्र कहे सुन साहेब, अरज एक अवधारेंगे ।
ममता त्याग समता घर अपनो, वेगे जाय अपनावेंगे ॥मेरे कब०॥४॥

अनुभव चेतन मित्र मले दोउ, सुमति निशान घुरावेंगे ।
विलसत सुख जस लीला में, अनुभव प्रीति जगावेंगे ॥ मेरे कब०॥५॥

(६०)

राग रामगिरि—कडखो—प्रभातीनी ढाळ

धार तरवारनो सोहिली दोहिली,
चौदमा जिनतणी चरणसेवा;
धार पर नाचता देख बाजीगरा,
सेवना धार पर रहे न देवा। धा० १

एक कहे सेवीए विविध किरिया करी,
फळ अनेकान्त लोचन न देखे;
फळ अनेकान्त किरिया करी बापडा,
रडवडे चार गतिमांहि लेखे. धा० २

गच्छना भेद बहु नयण निहाळतां,
तत्त्वनी वात करतां न लाजे;
उदरभरणादि निज काज करतां थकां,
मोह नडिया कळिकाळ राजे। धा० ३

वचन निरपेक्ष व्यवहार जूठो कह्यो,
वचन सापेक्ष व्यवहार साचो;
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसारफळ,
सांभळी आदरी कांई राचो। धा० ४

देव, गुरु, धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे,
किम रहे शुद्ध श्रद्धा न आणे;
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया कही,
छारपरि लींपणो सरस जाणो। धा० ५

पाप नहिं कोई उत्सूत्र भाषण जिसो,
धर्म नहिं कोई जग सूत्र सरिखो;
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे,
तेहनो शुद्ध चारित्र परीखो। धा० ६०

एह उपदेशनो सार संक्षेपथी,
जे नरो चित्तमें नित्य ध्यावे;
ते नरो दिव्य बहु काळ सुख अनुभवी,
नियत **आनंदघन** राज पावे। धा० ७

(६१)

राग रामकली—अंबर दे हो मुरारी–ए देशी

कुंथु जिन ! मनडुं किमही न बाझे,
जिम जिम जतन करीने राखुं, तिम तिम अलगुं भाजे हो। कुं० १

रजनी वासर वसती ऊजड, गयण पायाले जाये;
'साप खायने मोहडुं थोथुं,' एह उखाणो न्याये हो। कुं० २

मुगतितणा अभिलाषी तपीया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासे;
वयरीडुं कांइ एहवुं चिंते, नांखे अवळे पासे हो। कुं० ३

आगम आगमधरने हाथे, नावे किण विधि आंकुं;
किहां किण जो हठ करी हटकुं, तो व्याळतणी परे वांकुं हो। कुं० ४

जो ठग कहुं तो ठगतुं न देखुं, साहुकार पिण नांहि;
सर्व मांहे ने सहुथी अलगुं, ए अचरिज मनमांहि हो। कुं० ५

जे जे कहुं ते कान न धारे, आप मते रहे कालो;
सुर नर पंडित जन समजावे, समजे न माहरो सालो हो। कुं० ६

में जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकळ मरदने ठेले;
बीजी वाते समरथ छे नर, एहने कोइ न झेले हो। कुं० ७

मन साध्युं तिणे सघळुं साध्युं, एह वात नहि खोटी;
इम कहे साध्युं ते नवि मानुं, ए कही वात छे मोटी हो। कुं० ८

मन दुराराध्य तें वसि आण्युं, ते आगमथी मति आणुं;
आनंदघन प्रभु माहरुं आणो, तो साचुं करी जाणुं हो. कुं० ९

(६२)

राग धनाश्री-तीन ताल

अब हम अमर भये, न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज, क्योंकर देह धरेंगे?
॥ अब० ॥ १ ॥

राग दोष जग बंध करत है, इनको नाश करेंगे।
मर्यो अनंत काल ते प्रानी, सो हम काल हरेंगे।
॥ अब० ॥ २ ॥

देह विनाशी, हुं अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरेंगे।
॥ अब० ॥ ३ ॥

मर्यो अनंत वार विन समज्यो, अब सुख दुःख विसरेंगे।
आनन्दघन निपट निकट अक्षर दो, नहीं सुमरे सो मरेंगे।
॥ अब० ॥ ४ ॥

(६३)

राग केदार–तीन ताल

राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री
॥ राम० ॥ १ ॥

भाजनभेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री
तैसे खंड कल्पनारोपित, आप अखंड सरूप री
॥ राम० ॥ २ ॥

निजपद रमे राम सो कहिये, रहिम करे रहिमान री
कर्षे करम कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री
॥ राम० ॥ ३ ॥

परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री
इह विधि साधो आप **आनन्दघन**, चेतनमय निकर्म री
॥ राम० ॥ ४ ॥

(६४)

राग केदारो—कुमर पुरंद साहसी–ए देशी

शंहेर बडा संसारका, दरवाजे जसु चार;
रंगीले आतमा, चौराशी लक्ष घर वसे अति मोटो विस्तार। रं० १

घर घरमें नाटिक बने, मोह नचावनहार;
वेस बने केइ भांतके, देखत देखनहार. रं० २

चौद राजके चौकमें, नाटिक विविध प्रकार;
भमरी देइ करत तत्थेइ, फिरी फिरी ए अधिकार। रं० ३

नाचत नाच अनादिको, हुं हार्यो निराधार;
श्रीश्रेयांस कृपा करो, आनंद के आधार। रं० ४

(६८)

राग मेवाडो, देशी—माना दरजणनी

परमेसरशुं प्रीतडी रे, किम कीजे किरतार;
प्रीत करंता दोहलि रे, मन न रहे खिण एकतार रे,
मनडानी वातो जोज्यो रे, जुजुईधातो रंगबिरंगी रे;
मनडुं रंगबिरंगो । रे म० १

खिण घोडे खिण हाथीए रे, ए चित्त चंचल हेत;
चुंप विना चाहे घणुं, मन खिण रातुं खिण स्वेत रे । म० २

टेक धरीने जो करे, लागी रहे एकान्त
प्रीति पटंतर तो लहे, भाजे भवनी भ्रांत रे । म० ३

धर्मनाथ प्रभु शुं रमे रे, न मळे बीजे ठाम;
आनंदवर्धन वीनवे, सो साधे वंछित काम रे । म० ४

(६६)

राग जेतसिरि—देशी पारधीयानी

सुणि पंजर के पंखीया रे, करी मीठे परिणाम रे;
तुं है तोर रंगका रे, जपहु जिनेश्वर नाम रे। पं०

मेरे जीउका सूडा, नीके रंगका रूडा एतो बोलो रे बोलो;
प्रभु के प्यारशुं रे, खेलो करी एकतार रे। पं० १

उठत फिरत अनादिका रे, न मिटे भुख ने प्यास रे;
चार दिनका खेल्ना रे, या पंजर के वास रे। पं० २

इत उत चंच न लाईयें रे, रहीयें सहज सुभाय रे;
मुनिसुव्रत प्रभु ध्याइयें रे, आनंदशुं चित्त लाय रे। पं० ३

(६७)

शीतल शीतलनाथ सेवो, गर्व गाळी रे;
भवदावानल भंजवाने, मेघमाळी रे। शी० १

आश्रव रुंधी एक बुद्धि, आसन वाळी रे;
ध्यान एहनुं मनमां धरो, लेई ताळी रे। शी० २

कामने बाळी, क्रोधने टाळी, रागने राळी रे;
उदय प्रभुनुं ध्यान धरतां, नित दीवाळी रे. शी० ३

(६८)

मनमोहनारे लाल—ए देशी

सुविधिजिनेसर साहिबा रे, मनमोहना रे लाल;
सेवो थइ थिर थोभरे, जगसोहना रे लाल;

सेवा नवि होये अन्यथा रे, म० होये अथिरतायें क्षोभ रे ज०
प्रभु सेवा अंबुदघटा रे, म० चढि आवी चित्तमांहि रे ज०
अस्थिर पवन जब उलटे रे, म० तव जाये विलई त्यांहि रे ज०
पुंश्चली श्रेयकरी नहीं रे, म० जिम सिद्धांत मझार रे ज०
अथिरता तिम चित्तथी रे म० चित्तवचन आकार रे ज०
अंतःकरणे अथिरपणुं रे, म० जो न ऊधर्युं महाशल्य रे ज०
तो श्यो दोष सेवा तणो रे, म० नवि आपे गुण दिह्ल रे ज०
तिणे सिद्धमां पण वांछीओ रे, म० थिरतारूप चरित्त रे ज०
ज्ञान दर्शन अभेदथी रे, म० रत्नत्रयि इम उत्त रे. ज०
सुविधिजिन सिद्ध वस्या रे, म० उत्तम गुण अनूप रे. ज०
पद्मविजय तस सेवथी रे. म० थायें निज गुण भूप रे. ज०

(६९)

आळस

देशी-हमीरियानी

आळस अंगथी परिहरो, आळस छे दुःखदाय सद्गुणे०
अलच्छि आळसु घर वसे, लच्छी ते दूर जाय स० आळस० १
ए आंकणी०

आळसु अळगो धरमथी, आळसुने संदेह सद्गुणे०
क्षण क्षण नित नव ऊपजे, हैडे ते विश्वावीश आळस० २

पुण्ये नरभव पामीयो, चिहुं गति भमतां जोय सद्गुणे०
आरज देश उत्तम कुळे, भाग्ये जन्म ज होय आळस० ३

आळस परिहरो प्राणीया, धर्मे उद्यम मांड सद्गुणे०
सामग्र सूधी लही, आळस काठीयो छांड आळस० ४

इंद्रिय पूरी पामीने, सांभळ सूत्र सिद्धांत सद्गुणे०
देव गुरु धर्मने ओळखी, सेवो मन एकांत आळस० ५

आळसे बांध्या प्राणीया, न करे धर्मव्यापार, सद्गुणे०
पाम्यो चिन्तामणि परिहरी, ते ग्रहे काच गमार आळस० ६

उद्यमथी सुख ऊपजे, उद्यमे दारिद्र जाय सद्गुणे०
विद्या लक्ष्मी चाकरी, उद्यमे सफळी थाय आळस० ७

आळस ऊंघे पीडिया, इह लोके सीदाय सलूणे०
परलोकनुं शुं पूछवुं, भवोभव दुःखीया थाय आळस० ८

नारी निभ्रंछे तेहने, आळसु मांहे इन सलूणे०
सज्जनमां शोभा नहिं, आळसु दुःखीयो हीन आळस० ९

पापी नर आळसु भला, धरमी उद्यमवंत सलूणे०
पंचम अंगे भाखीयो, भावे ते भगवंत आळस० १०

धर्मे दीसे बहु आळसु, पापे उद्यमवंत सलूणे०
पापे परभव दुःख लहे, धर्मे सुख अनंत आळस० ११

आर्द्र अरणिक अर्जुन मुनि, दढप्रहारी धीर सलूणे०
आळस गोदडुं नाखीने, उद्यमे थया वडवीर आळस० १२

एहवुं जाणीने उद्यमे, धरम करो नरनार सलूणे०
वीर कहे आळस विरमीये, विशुद्ध करी विचार आळस० १३

(७०)

नरसो श्रावक—चावखो

शाणा श्रावक थइने डोले, मुखेथी सत्य वचन नवी बोले,

मम्मा चच्चानी गाळ दीये, ने आळ अनाहुत बोले;
निंदा करतां नवरां न थाये, ए तो वेठां गपोडां फोले। शा० १

छिद्रग्राही छळ ताकतो हींडे ने मर्म पराया बोले,
दगलबाजी करे राजी थइ, पाजी त्राजुए ओछुं तोले। शाणा० २

अवगुणरूपी आळे देखी, तिहां कागडो थईने डोले,
अगड लेइ एके पाळे नहि, ए तो चलावे पाने पोले। शा० ३

मुखे बांधी मुहपत्ति लजावी, ने धर्म लजाव्यो ढोले,
खोडाजी कहे मात तातने लजाव्यां, ने गुरुने लजाव्या गोले। शा० ४

(७१)

कफनी

महाश्वेता—शुं कहुं कथनी मारी राज—ए राग

कफनीए केर मचाव्यो राज, कफनीए केर मचाव्यो;
मने भवनाटक नचाव्यो राज, कफनीए० टेक

संन्यासी हुं नगरनिवासी जनपरिचयथी उदासी;
ध्याननो भंग थवाथी त्रासी पहाड उपर गयो नासी। क० १

एक गुफानो आश्रय लीधो, फळ पत्र फुल खाउं भावे;
एकांते धरुं ध्यान प्रभुनुं, त्यां विधि वांको थावे। राज क० २

एक दिन मारी कफनी कापी, उंदरडीए वेर वाळ्युं;
तस रोधे तन रक्षण अर्थे, बिल्लीनुं बच्चुं में पाळ्युं। राज० क० ३

मंजारीनी गंधे उंदरडी, भय भाळीने भागी;
एक उपाधि मटी तन पाछळ, बीजी उपाधि जागी। राज० क० ४

फाखमां घाली सांज सवारे, जउं हुं नित्य दूध पावा;
तळेटीए भरवाड वसे ते, दे दूध जाणी बावा। राज० क० ५

जातां वळतां काळक्षेपथी, आहेरने दया आवी;
गाय उपाधिमय एक आपी, थाय न मिथ्या भावी। राज० क० ६

गायने खावा चारो जोइए, खेतर पंचे आप्युं;
हळ कोदाळी साधन जाच्यां, दाटयुं में बापनुं दापुं । राज० क० ७

रात दिवस महायत्न करीने, खेड खातर करी वाव्युं;
कणबीज बोयां ध्यान भूल्यो हुं ध्यान खेतरनुं में ध्याव्युं । राज० क० ८

भीष्म दुकाळ पड्यो आ वरसे, पाशेर जार न पाकी;
चार थई ते गाये खाधी, महेसुल रही गयुं बाकी । राज० क० ९

गाय ने बिल्ली नाशी गयां बे, कफनी ने हुं पकडायां;
वांक नथी कांई मारो साहेब, हुं निर्दोष छुं राया । राज० क० १०

कफनीनी कूडी मायामां, मार में खाधो भारी;
योग ध्यान ने भान भूल्यो हुं धिक माया गोझारी । राज० क० ११

जा, कफनी हवे काम न तारुं, हवे दिगम्बर थईशुं;
तजी संसारनी कूडी माया, प्रभुने शरणे जईशुं । राज० क० १२

संन्यासीनी वात सुणीने, हाकम विस्मय पाम्यो;
खेडुत संन्यासीने छोडचा, चिन्तास्वरूप विराम्यो । राज० क० १३

छोडी कफनीनी मोटी उपाधि, बगडी बावानी बाजी;
सांकळचंद संसार उपाधि, क्रोड गमे रही गाजी । राज० क० १४

(७२)

राग जयतिश्री—तीन ताल

जैसे राखहु वैसेहि रहौं ।
जानत दुख सुख सब जनके तुम मुखतें कहा कहौं

कबहुंक भोजन लहौं कृपानिधि, कब हूँ भूख सहौं
कबहुँक चढौं तुरंग महागज, कबहुंक भार बहौं ॥

कमलनयन घनश्याम मनोहर, अनुचर भयो रहौं ।
सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि, तुम्हरे चरन गहौं ॥

(७३)

राग सिंध-काफी

प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो।
समदरशी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।

इक नदिया इक नार कहावत, मैलो हि नीर भरो॥
जब मिल करके एक बरन भये सुरसरि नाम पर्यो॥

इक लोहा पूजा में राखत, इक घर वधिक पर्यो।
पारस गुण अवगुण नहिं चितवत, कंचन करत खरा॥

यह माया भ्रमजाल कहावत सूरदास सगरो।
अबकी बेर मोहिं पार उतारो नहिं प्रन जात टरो॥

(७४)

राग काफी—तीन ताल

रे मन ! मूरख जनम गँवायो ।
करि अभिमान विषय रस राच्यो स्याम-सरन नहिं आयो ॥

यह संसार फूल सेमर को सुन्दर देखि भुलायो ।
चाखन लाग्यों रुई गई उडि, हाथ कछू नहीं आयो ॥

कहा भयो अब के मन सोचे, पहिले नाहिं कमायो ।
कहत सूर भगवंत भजन विनु सिर धुनि धुनि पछितायो ॥

(७८)

राग आसा-मांड, तीन ताल, या दीपचंदी

तुम मेरी राखो लाज हरी ।
तुम जानत सब अन्तरजामी ।
करनी कछु न करी ॥ १ ॥

औगुन मोसे बिसरत नाहीं,
पल छिन घरी घरी ।
सब प्रपंच की पोट बांध करि
अपने सीस धरी ॥ २ ॥

दारा सुत धन मोह लिये हौं
सुधि बुधि सब बिसरी ।
सूर पतित को बेग उधारो,
अब मेरी नाव भरी ॥ ३ ॥

(७६)

राग गजल—पहाडी धुन

समझ देख मन मीत पियारे आसिक होकर सोना क्या रे।
रूखा सूखा गम का टुकडा फीका और सलोना क्या रे॥

पाया हो तो दे ले प्यारे पाय पाय फिर खोना क्या रे।
जिन आंखिन में नींद घनेरी तकिया और बिछौना क्या रे॥

कहे **कबीर** सुनो भाई साधो सीस दिया तब रोना क्या रे॥

(७७)

राग हमीर—तीन ताल

गुरु बिन कौन बतावे बाट ? बडा विकट यमघाट ॥ध्रु०॥

भ्रांति की पहाडी नदिया बिचमें अहंकार की लाट ॥ १ ॥

काम क्रोध दो पर्वत ठाढे लोभ चोर संघात ॥ २ ॥

मदमत्सर का मेह बरसत माया पवन वहे दाट ॥ ३ ॥

कहत कबीर सुनो भई साधो क्यों तरना यह घाट ? ॥ ४ ॥

(७८)

राग पीलू—दीपचंदी

इस तन धन की कौन बडाई ।
देखत नैनों में मिट्टी मिलाई ॥ ध्रु० ॥

अपने खातर महल बनाया ।
आपहि जा कर जंगल सोया ॥ १ ॥

हाड जले जैसे लकडी की मोली
बाल जले जैसी घास की पोली ॥ २ ॥

कहत **कबीरा** सुन मेरे गुनिया ।
आप मुवे पिछे डुब गई दुनिया ॥ ३ ॥

(७९)

राग मालकंस—झपताल

शूर संग्राम को देख भागै नहीं,
देख भागै सोई शूर नाहीं।
काम औ क्रोध मद लोभ से जूझना
मँडा घमसान तहँ खेत माहीं॥

शील औ सौच संतोष साही भये,
नाम समसेर तहँ खूब बाजै।
कहै कबीर कोई जूझिहै शूरमा
कायरां भीड़ तहँ तुरत भाजै॥

(८०)

राग कौशिया—तीन ताल

निंदक बाबा बीर हमारा ।
बिन ही कौडी बहै बिचारा ॥

कोटि कर्म के कल्मष काटै ।
काज संवारै बिन ही साटै ॥

आपन डूबै और को तारै ।
ऐसा प्रीतम पार उतारै ॥

जुग जुग जीवो निंदक मोरा ।
रामदेव ! तुम करो निहोरा ॥

निंदक मेरा पर उपकारी ।
दादू निंदा करै हमारी ॥

(८१)

राग कौशिया—तीन ताल

प्रभुजी ! तुम चंदन, हम पानी ।
जाकी अंग अंग बास समानी ॥

प्रभुजी, तुम घन बन हम मोरा ।
जैसे चितवत चंद चकोरा ॥

प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती ।
जाकी जोति बरै दिन राती ॥

प्रभुजी, तुम मोती हम धागा ।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥

प्रभुजी, तुम स्वामी हम दासा ।
ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

(८२)

राग भैरवी—तीन ताल

संत परम हितकारी, जगत माँही ॥ ध्रु० ॥

प्रभुपद प्रगट करावत प्रीति, भरम मिटावत भारी ॥ १ ॥

परम कृपालु सकल जीवन पर, हरि सम सब दुखहारी ॥ २ ॥

त्रिगुणातीत फिरत तन त्यागी, रीत जगत से न्यारी ॥ ३ ॥

ब्रह्मानंद संतन की सोबत, मिलत है प्रकट मुरारी ॥ ४ ॥

(८३)

राग आसा मांड—झपताल

ज्यां लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहि
त्यां लगी साधना सर्व जूठी
मानुषादेह तारो एम एळे गयो
मावठानी जेम वृष्टि वूठी ॥ १

शुं थयुं स्नान पूजा ने सेवा थकी
शुं थयुं घेर रही दान दीधे
शुं थयुं धरी जटा भस्म लेपन कर्ये ?
शुं थयुं वाळ लोचंन कीधे ? २

शुं थयुं तप ने तीरथ कीधा थकी
शुं थयुं माळ ग्रही नाम लीधे ?
शुं थयुं तिलक ने तुलसी धार्या थकी
शुं थयुं गंगजल पान कीधे ? ३

शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वदे
शुं थयुं राग ने रंग जाण्ये ?
शुं थयुं खट दरशन सेव्या थकी
शुं थयुं वरणना भेद आण्ये ? ४

ए छे परपंच सहु पेट भरवा तणा
आतमाराम परिब्रह्म न जोया
भणे **नरसैंयो** के तत्त्वदर्शन विना
रत्नचिंतामणि जन्म खोयो ५

(८४)

राग आसावरी—तीन ताल

वैष्णव नथी थयो तुं रे, शीद गुमानमां घुमे
हरिजन नथी थयो तुं रे टेक०

हरिजन जोइ हैडुं नव हरखे द्रवे न हरिगुण गातां
कामधाम चटकी नथी फटकी, क्रोधे लोचन रातां

तुज संगे कोइ वैष्णव थाए तो तुं वैष्णव साचो
तारा संगनो रंग न लागे, तांहां लगी तुं काचो

परदुःख देखी हृदे न दाझे, परनिंदा नथी डरतो
वहाल नथी विट्ठलशुं साचुं, हठे न हुं हुं करतो

परोपकारे प्रीत न तुजने, स्वारथ छूट्यो छे नहि
कहेणी तेहेवी रहेणी न मळे, कांहां लख्युं एम कहेनी

भजवानी रुचि नथी मन निश्चे, नथी हरिनो विश्वास
जगत तणी आशा छे जांहां लगी, जगत गुरु तुं दास

मन तणो गुरु मन करेश तो, साची वस्तु जडशे
दया दुःख के सुख मान पण, साचुं कहेवुं पडशे

(८५)

राग छाया खमाज—तीन ताल

हरिनो मारग छे शूरानो, नहि कायरनुं काम जोने
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वळती लेवुं नाम जोने ध्रु०

सुत वित दारा शीश समरपे, ते पामे रस पीवा जोने
सिंधु मध्ये मोती लेवा मांही पड्या मरजीवा जोने १

मरण आंगमे ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने
तीरे उभा जुए तमाशो, ते कोडी नव पामे जोने २

प्रेमपंथ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने
मांही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने ३

माथा साटे मोंघी वस्तु, सांपडवी नहि स्हेल जोने
महापद पाम्या ते मरजीवा, मूकी मननो मेल जोने ४

राम अमलमां राता माता पूरा प्रेमी परखे जोने
प्रीतमना स्वामीनी लीला ते रजनीदिन नरखे जोने ५

(८६)

राग सारंग—दीपचंदी ताल

त्याग न टके रे वैराग विना, करीए कोटि उपाय जी
अंतर ऊंडी इच्छा रहे, ते केम करीने तजाय जी ध्रुव०

वेष लीधो वैरागनो, देश रही गयो दूर जी
उपर वेष अच्छो बन्यो, मांही मोह भरपूर जी १

काम क्रोध लोभ मोहनुं ज्यां लगी मूळ न जाय जी
संग प्रसंगे पांगरे, जोग भोगनो थाय जी २

उष्ण रते अवनी विषे, बीज नव दीसे बहार जी
घन वरसे वन पांगरे, इंद्रिय विषय आकार जी ३

चमक देखीने लोह चळे, इंद्रिय विषय संजोग जी
अणभेटे रे अभाव छे, भेटे भोगवशे भोग जी ४

उपर तजे ने अंतर भजे, एम न सरे अरथ जी
वणश्यो रे वर्णाश्रम थकी, अंते करशे अनरथ जी ५

भ्रष्ट थयो जोगभोगथी, जेम बगड्युं दूध जी
गयुं घृत मही माखण थकी, आपे थयुं रे अशुद्ध जी ६

पळमां जोगी ने भोगी पळमां, पळमां गृही ने त्यागी जी
निष्कुळानंद ए नरनो, वणसमज्यो वैराग जी ७

(८७)

राग सारंग—दीपचंदी ताल

जंगल वसाव्युं रे जोगीए, तजी तनडानी आश जी
वात न गमे आ विश्वनी, आठे पहोर उदास जी ध्रु०
सेज पलंग पर पोढता, मंदिर झरुखा मांय जी
तेने नहि तृण साथरो, रहेता तरुतळ छांय जी १
शाल दुशाला ओढता, झीणा जरकशी जाम जी
तेणे रे राखी कंथागोदडी, सहे शिर शीत घाम जी २
भावतां भोजन जमता, अनेक विधिनां अन्न जी
ते रे मागण लाग्या टुकडा, भिक्षा भवन भवन जी ३
हाजी कहेतां हजारुं ऊठता, चालतां लश्कर लाव जी
ते नर चाल्या रे एकला, नहिं पेंजार पाव जी ४
रहो तो राजा रसोई करुं, जमता जाओ जोगीराज जी
खीर नीपजावुं क्षणुं एकमां, ते तो भिक्षाने काज जी ५
आहार कारण उभो रहे, एकनी करी आश जी
ते जोगी नहि, भोगी जाणवो, अंते थाय विनाश जी ६
राजसाज सुख परहरी, जे जन लेशे जोग जी
ते धनदारामां नहि धसे, रोग सम जाणे भोग जी ७
धन्य ते त्याग वैरागने, तजी तनडानी आश जी
कुळ रे तजी निष्कुळ थया, तेनुं कुळ अविनाश जी ८

(८८)

राग आसा—झपताल

धीर धुरन्धरा शूर साचा खरा
मरणनो भय ते तो मंन नाणे
खर्व निखर्व दळ एकसामां फरे
तरणने तुल्य तेने ज जाणे १

मोहनुं सेन महा विकट लडवा समे
मरे पण मोरचो नहि ज त्यागे
कवि गुणी पंडित बुद्धे बहु आगळा
ए दळ देखतां सर्व भागे २

काम ने क्रोध मद लोभ दळमां मुखी
लडवा तणो नव लाग लागे
जोगिया जंगम तपी त्यागी घणा
मोरचे गये धर्मद्वार मागे ३

एवा ए सेनशुं अडिखम आखडे
गुरुमुखी जोगिया जुक्ति जाणे
मुक्त आनंद मोह फोज मार्या पछी
अखंड सुख अटळ पद राज माणे ४

(८९)

गरवी

(शीख सासुजी दे छे रे—ए ढाळ)

टेक न मेले रे, ते मरद खरा जग मांही
त्रिविध तापे रे, कदी अंतर डोले नाहीं ॥ १

निधडक वरते रे, दृढ धीरज मन धारी
काळ कर्मनी रे, शंका देवे विसारी ॥ २

मोडुं वहेलुं रे, निश्चे करी एक दिन मरवुं
जगसुख सारू रे, केदी कायर मन नव करवुं ॥ ३

अंतर पाडी रे, समजीने सवळी आंटी
माथुं जातां रे, मेले नहि ते नर माटी ॥ ४

कोईनी शंका रे, केदी मनमां नव धारे
ब्रह्मानंदना रे, वहालाने पळ न विसारे ॥ ५

(९०)

भक्ति शूरवीरनी साची रे, लीधा पछी केम मेले पाछी

मन तणो निश्चय मोरचो करीने, वधिया विश्वासी
काम क्रोध मद लोभ तणे जेणे गळे दीधी फांसी भक्ति०

शब्दना गोळा ज्यारे छुटवा लाग्या, ने मामलो रह्यो सौ मची;
कायर हता ते तो कंपवा लाग्या, ए तो निश्चे गया नासी भक्ति०

साचा हता ते सन्मुख रह्या, ने हरि संगाथे रह्या राची;
पांच पचीसने अळगा मेल्या, पछी ब्रह्म रह्यो भासी भक्ति०

करमना पासला कापी नाख्या, भाई ओळख्या अविनाशी;
अष्टसिद्धिनी इच्छा न करे, एनी मुक्ति थाय दासी भक्ति०

तन मन धन जेणे तुच्छ करी जाण्यां, अहर्निश रह्या उदासी;
भोजो भगत कहे भक्त थया, ए तो वैकुंठना वासी भक्ति०

(९१)

राग खमाज—ताल धुमाळो

जीभलडी रे तने हरिगुण गातां, आवडुं आळस क्यांथी रे
लवरी करतां नवराई न मळे, बोली उठे मुखमांथी रे
परनिंदा करवाने पूरी, शूरी खटरस खावा रे
झगडो करवा झूझे वहेली, कायर हरिगुण गावा रे
अंतकाल कोई काम न आवे, वहाला वेरीनी टोळी रे
वजन धारीने सर्वस्व लेशे, रहेशो आंखो चोळी रे
तल मंगावो ने तुलसी मंगावो, रामनाम संभळावो रे
प्रथम तो मस्तक नहि नमतुं, पछी शुं नाम सुणावो रे
घर लाग्या पछी कूप खोदावे, आग ए केम होलवाशे रे
चोरो तो धन हरी गया पछी, दीपकथी शुं थाशे रे
मायाघेनमां ऊंघी रहे छे जागीने जो तुं तपासी रे
अंत समे रोवाने बेठी, पडी काळनी फांसी रे
हरिगुण गातां दाम न बेसे, एके वाळ न खरशे रे
म्हेजे पंथनो पार न आवे, भजन थकी भव तरशे रे

(९२)

भगवत भजजो, रामनाम रणुंकार
आ तन होडी, सतधर्म रुदामां धार–टेक

भवसागर तो भर्यो भयंकर तृष्णानीर अपार
कायाबेडी छे कादवनी, आडाझुड अहंकार
सद्‌गुरु संगे, तरी उतरो भवपार भग०

नरदेह तो दुर्लभ देवने, ते पाम्यो तुं पिंड
सत्संग करजो साधु पुरुषनो, लेजो लाभ अखंड
पछे पस्ताशो, वखत जाय आ वार भग०

कीट ब्रह्मादिक सकळ देहने जमरायनो त्रास,
क्षणभंग काया जाणजो निश्चे एक काळनो ग्रास
अल्पनी बाजी, तेमां शुं करवो अहंकार भग०

कैंक जन्म तो मनुष्यजातमां धर्या देह अपार
मद माया ने मोह जाळनो धर्यो शिर पर भार
प्रभु नव जाण्या, तेथी अंते थयो छे खुवार भग०

कहे **गवरी** तुं सद्‌गुरु केरो राख विश्वास
भजन करो दृढ भावथी तो मळे सुख अविनाश
मान कह्युं मारुं, नहीं तो खाशे जमनो मार भग०

(९१)

राग खमाज—ताल धुमाळो

जीभल्डी रे तने हरिगुण गातां, आवडुं आळस क्यांथी रे
ल्वरी करतां नवराई न मळे, बोली उठे मुखमांथी रे
परनिंदा करवाने पूरी, शूरी खटरस खावा रे
झगडो करवा झूझे वहेली, कायर हरिगुण गावा रे
अंतकाल कोई काम न आवे, वहाला वेरीनी टोळी रे
वजन धारीने सर्वस्व लेशे, रहेशो आंखो चोळी रे
तल मंगावो ने तुलसी मंगावो, रामनाम संभळावो रे
प्रथम तो मस्तक नहि नमतुं, पछी शुं नाम सुणावो रे
घर लाग्या पछी कूप खोदावे, आग ए केम होलवाशे रे
चोरो तो धन हरी गया पछी, दीपकथी शुं थाशे रे
मायावेनमां ऊंघी रहे छे जागीने जो तुं तपासी रे
अंत समे रोवाने बेठी, पडी काळनी फांसी रे
हरिगुण गातां दाम न बेसे, एके वाळ न खरशे रे
स्हेजे पंथनो पार न आवे, भजन थकी भव तरशे रे

(९६)

राग भैरवी–तीन ताल

मंगल मंदिर खोलो

दयामय ! मंगल मंदिर खोलो ध्रुव०

जीवनवन अति वेगे वटाव्युं,

द्वार उभो शिशु भोळो

तिमिर गयुं ने ज्योति प्रकाश्यो

शिशुने उरमां ल्यो ल्यो १

नाम मधुर तम रट्यो निरंतर

शिशु सह प्रेमे बोलो

दिव्यतृषातुर आव्यो बाळक

प्रेम अमीरस ढोळो २

भभकभर्या तेजथी हुं लोभायो ने भय छतां धर्यो गर्व
वीत्यां वर्षोने लोप स्मरणथी स्खलन थयां जे सर्व
मारे आज थकी नवुं पर्व ४

तारा प्रभावे निभाव्यो मने प्रभु आज लगी प्रेमभेर
निश्चे मने ते स्थिर पगलेथी चलवी पहोंचाडशे घेर
दाखवी प्रेमळ ज्योतिनी सेर ५

कर्दमभूमि कळणभरेली ने गिरिवर केरी कराड
घसमसता जळकेरा प्रवाहो सर्व वटावी कृपाळ
मने पहोंचाडशे निज द्वार ६

रजनी जशे ने प्रभात उजळशे ने स्मित करशे प्रेमाळ
दिव्यगणोनां वदन मनोहर मारे हृदय वस्यां चिरकाळ
जे में खोयां हतां क्षणवार ७

(९६)

राग भैरवी–तीन ताल

मंगल मंदिर खोलो
　　दयामय ! मंगल मंदिर खोलो ध्रुव०

जीवनवन अति वेगे वटाव्युं,
　　द्वार उभो शिशु भोळो
तिमिर गयुं ने ज्योति प्रकाश्यो
　　शिशुने उरमां ल्यो ल्यो　　१

नाम मधुर तम रट्यो निरंतर
　　शिशु सह प्रेमे बोलो
दिव्यतृषातुर आव्यो बाळक
　　प्रेम अमीरस ढोळो　　२

(९७)

राग धनासरी—ताल धुमाली

वाह वाह रे मौज फकीरां दी (टेक)
कभी चबावें चना चबीना, कभी लपट लैं खीरां दी।
वाह वाह रे० १

कभी तो ओढें शाल दुशाला, कभी गुदडियां ल्हीरां दी।
वाह वाह रे० २

कभी तो सोवें रंग महलमें, कभी गली अहीरां दी।
वाह वाह रे० ३

मंग तंग के टुकडे खान्दे, चाल चलें अमीरां दी
वाह वाह रे० ४

(९८)

काहेरे बन खोजन जाई ।
सरब निवासी सदा अलेपा,
तो ही संग समाई ॥ १ ॥

पुष्पमध्य ज्यों बास बसत है,
मुकर माहिं जस छाई
तैसे ही हरि बसै निरंतर,
घट ही खोजो भाई ॥ २ ॥

बाहर भीतर एकै जानों,
यह गुरु ज्ञान बताई
जन **नानक** बिन आपा चीन्हे,
मिटै न भ्रम की काई ॥ ३ ॥

(९९)

जो नर दुःखमें दुःख नहीं मानै ।
सुख सनेह अरु भय नहीं जाके,
कंचन माटी जाने ॥ १ ॥

नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके,
लोभ मोह अभिमाना ।
हरष सोकतैं रहै नियारा,
नहिं मान—अपमाना ॥ २ ॥

आसा मनसा सकल त्यागि कै,
जगतें रहै निरासा ।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन,
तेहिं घट ब्रह्म निवासा ॥ ३ ॥

गुरु किरपा जेहिं नरपै किन्हीं,
तिन यह जुगति पिछानी ।
नानक लीन भयो गोविंद सों,
ज्यों पानी संग पानी ॥ ४ ॥

(१००)

राग परज

धर्मपथ ढूंढा नहीं धार्मिक हुआ तो क्या हुआ;
आत्महित चर्या नहीं आस्तिक हुआ तो क्या हुआ।

सप्तभंगी रट-रटा कर स्याद्वादी बन गया;
धर्म-द्वेष मिटा नहीं आर्हत हुआ तो क्या हुआ।

मान कर भी पश्यतः प्रविनष्ट क्षणभंगुर जगत्;
'मैं' का विष उतरा नहीं सौगत हुआ तो क्या हुआ।

'विश्व का प्रत्येक प्राणी विष्णु ही का रूप है;'
कार्य से झलका नहीं वैष्णव हुआ तो क्या हुआ।

पांच वक्त नमाज़ पढना डर खुदा की मार से;
जुल्म से डरता नहीं मुस्लिम हुआ तो क्या हुआ।

बन्धुता के भाव से निःस्वार्थ दुःखियों का अमर
दुःख दूर किया नहीं क्रिश्चियन हुआ तो क्या हुआ।

साधारण रात्रि के लिए भी हो गया। 'वि+भा' को 'वन्' प्रत्यय लगने पर 'वन्' के 'न' का स्त्रीलिंगी रूपमें 'र' होने पर 'विभावरी' शब्द बनता है। इसी प्रकार से 'भावर' शब्द को निष्पन्न कर 'भोर' शब्द की व्युत्पत्ति बतानी है। 'भोर' के समान एक दूसरा 'विभोर' शब्द भी है जो 'भोर' का ठीक पर्याय है उसकी व्युत्पत्ति भी 'भोर' के समान समजनी चाहिए। 'विभावरी' से 'विभावर' को बनाकर उस पर से 'विभोर' की और 'वि' को निकाल देनेसे 'भोर' की सिद्धि हो जाती है। "मन्—वन्—क्वनिप्—विच् क्वचित्" ५—१—१४७। हेमचंद्र के संस्कृत व्याकरण के इस नियमानुसार धातुमात्र को लक्ष्यानुसार 'वन्' प्रत्यय लगता है। उक्त 'वन्' प्रत्यय के लिए पाणिनीय का "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" सूत्र है। उक्त कल्पना के अनुसार 'विभोर' और 'भोर' का क्रमविकास इस तरह है:

विभावर—विभाउर—विभोर अथवा विभोर।

भावर—भाउर—भोर।

'विभोर' और 'भोर' ये दोनों शब्द स्त्रीलिंगी है यह ख्याल में रहे।

'भोर' के संबन्ध में दूसरी कल्पना इस प्रकार है:—

जिस समय चरवाहे लोक पशुओं को चराने के लिए

बन्धनमुक्त करते हैं उस समय के लिए हमारी काठियावाडी भाषा में ' पहर ' शब्द का व्यवहार प्रचलित है—सूर्योदय के पूर्व का समय—बडी फजर का समय ' पहर ' शब्द से द्योतित होता है। काठियावाडी प्रयोग 'प्रहर छूटी' के देखने से प्रतीत होता है कि ' पहर ' शब्द ' भोर ' की तरह स्त्रीलिंगी है। संभव है कि उक्त 'भोर' और प्रस्तुत 'पहर' का सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'प्रहर'की साथ हो । 'भोर' के समान प्रस्तुत ' पहर ' शब्द भी प्रातःकाल का वाची है और संस्कृत ' प्रहर '—प्रा. ' पहर ' के उपरसे ' भोर ' और ' पहर ' की व्युत्पत्ति बन सकती है । गुजराती के ' पहेलो पोर ' ' बीजो पोर ' ' बपोर ' शब्दो में जो ' पोर ' अंश है वह ' प्रहर '—'पहर' का ही रूपान्तर है। जिस प्रकार ' प्रहर ' – ' पहर ' से ' पोर 'का उद्भव है उसी प्रकार ' प्रहर ' – ' पहर ' से ' भोर ' का भी उद्भव हो सकता है । अर्थदृष्टि से भी ' पहर ' और 'भोर' में खास अंतर नहि दीखता । ' भोर ' का ' भ ' 'पहर' के ' प ' और ' ह ' के मिश्रण का परिणाम है । प्राकृत उच्चारणो में ' फ ' के स्थान में ' भ ' और 'ह' का प्रचार प्रसिद्ध है (देखो— "फो भ-हौ" ८-१-१३६ हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण):

सं० प्रहर—प्रा० पहर—पहुर—पहोर—पोर

सं. प्रहर—प्रा. पहर—पहोर—प्होर—भोर ।

'पोर' का 'ओ' विवृत है और 'भोर' का 'ओ' संवृत है ।

काठियावाडी 'पोरो खावो'—'विश्राम लेना' प्रयोगका 'पोर' शब्द भी 'प्रहर' का रूपांतर है। 'पोरो' और 'प्रहर' के पारस्परिक संबन्ध से ऐसा सूचित होता है कि एक प्रहर तक प्रवृत्ति करने बाद विश्राम लेने की वा विश्राम देने की प्रथा लोकव्यवहार में प्रचलित थी। क्या ही अच्छा हो कि 'पोरो' का यह भाव आज भी लोगों के ध्यान में आवे विशेषतः श्रीमानों के।

'प्रहर' में 'प्र' उपसर्ग है ओर 'हर' 'हृ' धातु का प्रयोग है। 'प्र' के साथ 'हृ' धातु का अर्थ 'प्रहार करना' प्रसिद्ध है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'प्रहर' की व्युत्पत्ति के संबन्ध में लिखा है कि— "प्रहियते अस्मिन् कालसूचकं वाद्यम् इति प्रहरः" अर्थात् समयदर्शक घंटा के उपर जिस समय पर प्रहार हो वह समय 'प्रहर' समजना—(अभिधानचिन्तामणि टीका द्वितीय काण्ड श्लो. ५९) इस प्रकार कालदर्शक 'प्रहर' शब्द के साथ 'प्रहार' क्रिया का भी संबन्ध ठीक बैठता है।

'प्राह्ण' शब्द भी प्रातःकाल का वाचक है। 'प्रहर' और 'प्राह्ण' में जो अक्षरसाम्य और अर्थसाम्य है वह प्रतीत है।

'घास के पूलों से भरा हुआ गाडा' का नाम भी 'भोर' है। इस अर्थ में 'भोर' की व्युत्पत्ति भिन्न प्रकार की है: संस्कृत भाषा में 'अतिशय' और 'भार' अर्थ में 'भर' शब्द व्यवहृत है "अथ अतिशयो भरः"–(अमरकोष स्वर्गवर्ग श्लो० ६९) "भर–एकान्त–अतिवेल–अतिशयाः"–(अभिधानचिन्तामणि ६ ट्ठा कांड श्लो० १४२) "भरः अतिशय–भारयोः" —(हेमचन्द्र अनेकार्थ संग्रह द्वितीय कांड श्लो० ४३२) 'भर' शब्द के 'भ' गत 'अ' का बंगालियों की तरह विवृत उच्चारण करने से 'भोर' बोला जाता है और उसका अर्थ 'घास के पूलों से लदा हुआ गाडा' होता है। काठियावाड में तो प्रस्तुत अर्थ में सीधा 'भर' शब्द प्रसिद्ध है और उसका पर्याय 'भरोट्टुं' शब्द भी प्रचलित है।

२. **भयो**–हुआ।

गूजराती 'थयो' और हिंदी 'हुआ' शब्द से जो भाव सूचित होता है वही भाव प्रस्तुत 'भयो' का है। संस्कृत 'भूत' शब्द से हिंदी 'हुआ' नीपजता है और वही 'भूत' शब्द, 'भयो' का भी जनक है:

भूत–भूअ–भया। भूत–भूअ–हुआ अथवा हुवा।

गूजराती का 'होय छे' क्रियापद भी सं. 'भू' धातु से आया है। प्राकृत में 'भू' के स्थान में 'हो' 'हुव' और 'हव'

(भुवेर्हो—हुव—हवाः ८—४—६० हेमचंद्र प्राकृत व्याकरण) ऐसे तीन धातु का व्यवहार है। उक्त 'होय छे' का मूल, इन प्राकृत धातुओं में है :

होअइ }
होइ } —होय छे।

प्रस्तुत पदो में कई जगह 'ह्वे' अथवा 'ह्वै' क्रियापद का प्रयोग पाया जाता है उसका मूल भी प्राकृत का 'हुव' अथवा 'हव' धातु है :

हुवइ—ह्वइ—ह्वे—अथवा ह्वै।
हवइ—ह्वइ—ह्वे अथवा ह्वै।

३. उठ—उठ—खडा हो।

सं० उत्+स्था—प्रा० उत्था। प्रस्तुत 'उत्था' उपर से 'उठना' और गूजराती 'ऊठवुं' क्रियापद आया है। 'उठ' क्रियापद 'उठना' का आज्ञार्थ वा विध्यर्थ रूप है। आचार्य हेमचंद्र "उद : ठ—कुक्कुरौ"—(८—४—१७ प्राकृतव्याकरण) सूत्रमें कहते हैं कि 'स्था' धातु जब 'उत्' के साथ हो तब उस के 'ठ' और 'कुक्कुर' ऐसे दो आदेश होते है। इसमें 'ठ' आदेश तो वाग्व्यापार के अनुसार है अर्थात् प्रस्तुत सूत्रमें आचार्य ने केवल वाग्व्यापार का ही अनुवाद किया है

परंतु 'स्था' के दूसरे आदेश 'कुक्कुर' के संबंध में ऐसा कैसे कहा जाय? खुद हेमचंद्र ने बताया है कि 'आदेश' और 'स्थानी' में साम्य की अपेक्षा आवश्यक है। सब व्याकरणों का वचन है कि "आदेश: स्थानीव"। 'इ' के स्थान में 'य' होता है वहां 'इ' स्थानी है और 'य' आदेश है। 'इ' और 'य' यह दोनों परस्पर समान स्थान के होने से उन दोनों में पर्याप्त समानता है इसी से उसका परस्पर आदेश–स्थानिका संबंध भी समुचित है परंतु इधर 'स्था' और 'कुक्कुर' में ऐसा कोई भी मेल नहि बैठता है और वाग्व्यापार के अनुसार 'स्था' का 'कुक्कुर' हो भी कैसे? जब 'स्था' और 'कुक्कुर' परस्पर सर्वथा विरुद्ध से है तब 'स्था' के स्थान में 'कुक्कुर' का कहना कैसे संगत होगा? यद्यपि 'स्था' और 'कुक्कुर' में अक्षरसाम्य तो जरा सा भी नहि दीखता किंतु अर्थसाम्य तो है परंतु अर्थसाम्य मात्र से कोई किसी का आदेश व स्थानी नहि वन सकता, वाग्व्यापार की प्रक्रिया में अर्थात् शब्द के क्रमिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अर्थसाम्य का उपयोग नहि के वरावर है इससे हेमचंद्र के उक्त विधान का ''कुक्कुर' और 'स्था' धातु परस्पर समानार्थक है' इतना ही अर्थ जानना उचित है नहि कि 'उन दोनों की वीच में वाग्व्यापार की दृष्टि से कुछ भी

साम्य है' अब तो यह निश्चित हुआ कि 'कुक्कुर' और 'स्था' के बीचमें आदेश–स्थानिका संबंध ही नहि बनता।

हेमचंद्र ने अपने व्याकरण के आठवें अध्याय में धात्वादेशों के प्रकरण में जो जो आदेशों का विधान बताया है उनमें वाग्व्यापार सापेक्ष आदेश तो बहुत कम है परंतु अधिक भाग उक्त रीत्या अर्थ समानतावाला है। इस संबंध में सविस्तर विवेचन अन्य प्रसंग पर ठीक होगा।

४. **जागो**–जाग्रत हो।

सं० जागर्तु प्रा० जग्गउ–जागउ–जागो। 'जागना' क्रिया का आज्ञार्थ व विध्यर्थ का रूप 'जागो'। गूजराती में 'जागवुं' धातु है उसका भी प्रस्तुत के समान 'जागो' रूप होता है।

५. **मनुवा**–हे मानवो!

सं० मनुजाः प्रा० मनुआ–मनुवा।

'मनुआ' के अन्त्यस्वर 'आ' के पूर्व ओष्ठस्थानीय 'उ' आने से उस 'उ' के बाद ओष्ठस्थानीय अर्धस्वर 'व' अधिक आ गया है। संस्कृत में भी इसी प्रकार का उच्चारण का नियम है: 'उ' वर्ण के बाद कोई विजातीय स्वर हो तो विद्यमान 'उ' के बाद 'व' आ जाता है अथवा विद्यमान 'उ' के स्थान में 'व' हो जाता है–'उ' ही 'व' में

परिणम जाता है। इस परिवर्तन का द्योतक "इको यण् अचि" यह पाणिनीय सूत्र है और "इवर्णादेः अस्वे स्वरे य-व-र-लम्" यह सूत्र आचार्य हेमचंद्र का है। दोनों सूत्रमें 'इकः' और 'इवर्णादेः' पद पंचम्यंत है और षष्ठ्यंत भी है। जब पंचम्यंत हो तब 'व' आगमवत् होता है और षष्ठ्यंत की विवक्षा हो तब 'उ', 'व' में बदल जाता है। दोनों प्रकार के अर्थ वैयाकरणों को संमत है और ये दोनों अर्थ है भी वाग्व्यापारानुसार।

६. **संभारो**–ठीक स्मरण में लाओ–बराबर याद करो।

सं० संस्मरतु प्रा० संम्हरतु–संभरउ–संभारउ–संभारो। 'संम्हर' का स्वरभार को सुरक्षित रखने के लिए उसके उपर से 'संभार' हुआ दीखता है। हिन्दी 'संभारना' और गुजराती 'संभारवुं' क्रियापद का मूल प्रस्तुत 'संम्हर' में है।

७. **सुतां**–सोते सोते।

सं० सुप्त–प्रा० सुत्त। 'सुत्त' उपर से 'सुतां' और गुजराती 'सूतुं' की निष्पत्ति है। 'सूतुं' का बहुवचन 'सुतां' है। अथवा सं० स्वपताम् रूप 'स्वप्' धातु का वर्तमान कृदन्त 'स्वपत्' का षष्ठी बहुवचनांत है उस पर से भी प्रस्तुत 'सुतां' आ सकता है। स्वपताम्–सुपताम्–सुअताम्–सुतां। 'सुत्त' से 'सुतां' बनाने की अपेक्षा

'स्वपताम्' से 'सुतां' बनाना अधिक संगत जान पड़ता है क्योंकि 'सुतां' में चालु क्रिया का भाव है वह 'स्वपताम्' में अनायास सिद्ध है और विभक्त्यर्थ भी ठीक वही है। 'अस्माकं स्वपतां स्वपतां चौरेण धनं हृतम्' वाक्य में 'स्वपतां स्वपतां' का जो भाव है ठीक वही भाव 'सुतां सुतां रयन विहानी' के 'सुतां सुतां' पद का है। अर्थसाधक ऐसा पुष्ट प्रमाण होने से 'सुतां' पद 'स्वपताम्' से लाना अच्छा है।

गुजराती 'सुतेलुं' और हिन्दी 'सोएला' पद प्रा. 'सुत्त' के स्वार्थ 'इल्ल' प्रत्यययुक्त 'सुत्तेल्ल' पद का विपरिणाम है। गुजराती 'करेलुं' 'गएलुं' इत्यादि में और मराठी 'केले' 'गेले' प्रभृति में स्वार्थिक 'इल्ल' प्रत्यय का उपयोग सुस्पष्ट है।

८. **रयन**—रात्री।

सं० रजनी—प्रा० रयणी—रयन। रंगराग और गाना नाचना वगैरे विलास संबन्धी क्रियाओं के लिए दिन की अपेक्षा रात्रि विशेष अनुकूल होती है। इसी कारण को लेकर शब्दों को गढने-वाले प्रचीन लोगों ने 'रात्रि' के अर्थ में 'रजनी' शब्द को संकेतित किया जान पडता है, उस प्राचीन संकेत के अनुसार कोषकारों ने भी 'रजनी' शब्द की व्युत्पत्ति 'राग' अर्थवाले 'रञ्ज्' धातु से बताई है: "रजन्ति अस्याम् इति रजनी"—(हैम अभिधानचिंतामणि टीका कां० २ श्लो० ५६) रात्रि

में होनेवाले रंगराग इत्यादि देखने से 'रजनी' शब्द रूढ नहि किन्तु यौगिक–व्युत्पन्न–जान पड़ता है।

सं० रजनी–उसके उपर से प्रा० रयनी अथवा रयणी–उसका परिणाम रयण, रयन अथवा रेण, रेन।

९. **विहानी**–प्रकाशयुक्त हुई–प्रातःकाल के रूपमें हुई। संस्कृत–विभान प्रा० विहाण अथवा विहान–विहानी।

'विभातायां विभावर्याम्' वा 'प्रभातायां शर्वर्याम्' के संस्कृत वाक्यो में 'विभात' वा 'प्रभात' शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ प्रस्तुत 'विहानी' का है। विहानी माने प्रकाशित। 'रयन विहानी' अर्थात् प्रकाशित रात्रि–प्रातःकाल के रूप में परिणत रात्रि।

आचार्य हेमचंद्र अपनी देशीनाममाला में लिखते हैं कि–"विहि–गोसेसु विहाणो"–(वर्ग ७, गा० ९०) अर्थात् 'विहाण' शब्द 'विधि' के और गोस–प्रातःकाल के अर्थ में व्यवहृत है। विचार करने से प्रतीत होता है कि 'विधि' अर्थ के 'विहाण' की और 'प्रातःकाल' अर्थ के 'विहाण' की व्युत्पत्ति सर्वथा भिन्न भिन्न है। 'विधि' अर्थवाला 'विहाण' संस्कृत 'विधान' शब्द से आया हुआ है। 'विधि' और 'विधान' में धातु भी एक ही है और उन दोनों का अर्थ प्रायः समान होता है: सं० विधान प्रा० विहाण–विधि।

'प्रभात' अर्थवाची 'विहाण' शब्द तो 'वि+भा' धातु से बनता है। 'भा' धातु का अर्थ है दीपना–प्रकाशना। वि+भा+न–विभान प्रा० विहाण। यह 'विहाण' शब्द 'प्रभात' का पर्याय है। जो धातु 'प्रभात' और 'विभात' में है वही धातु प्रस्तुत 'विहाण' में है। प्रचलित हिंदी में 'बिहान' शब्द का ठीक प्रचार है। हिंदीमें 'व' और 'ब' में विशेष भेद नहि है। उक्त व्युत्पत्ति देखने से प्रतीत होता है कि 'विहाण' शब्द व्युत्पन्न है परन्तु संस्कृत साहित्य में 'प्रभात' अर्थ में 'विभान' शब्द का प्रचार विरल होने से आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत व्युत्पन्न 'विहाण' शब्द को भी देश्य में परिगणित किया है। संस्कृत कोशो में 'प्रभात' अर्थवाला 'विभात' शब्द तो पाया जाता है: "प्रभातं स्याद् अहर्मुखम्। व्युष्टं विभातं प्रत्यूषम्"–इत्यादि। (हैम अभिधान चिंतामणि कांड २, श्लो० ५२–५३)।

'प्रहाणम्' 'विहीनम्' इत्यादि प्रयोगो में भूतकृदन्त के 'त' का 'न' होता है इसी प्रकार 'विभात' में भी 'त' का 'न' होकर 'विहाण' शब्द बनता है। संस्कृत प्रयोगो में 'त' का 'न' सार्वत्रिक नहि है परन्तु छांदस प्रयोगो में किसी प्रकार का नियत विधान प्रायः कम चलता है इस हेतु से संस्कृत का 'त' के 'न' का नियत विधान

छांदस में अनियत हो कर उक्तादन्यत्र भी हो जाता है और इसी नियम को लेकर 'विहाण' शब्द में 'त' का 'न' हुआ है, इस प्रकार 'विहाण' प्रयोग बाहुलिक होने से कोश ग्रंथों में अदृश्यसा होगया है फिर भी 'वि+भा+त' इस प्रकार उसका पृथक्करण देखने से मालूम होता है कि किसी प्राचीन समय में 'विहाण' शब्द 'प्रभात' अर्थ में होना चाहिए। उक्त व्युत्पत्ति से 'विहाण' का 'प्रभात' अर्थ तो सुस्पष्ट है। 'विभा+अन' ऐसा विभाग करने से भी 'विभान'–'विहाण' शब्द बन सकता है, परन्तु उक्त 'अन' प्रत्यय से भूतकाल का द्योतन नहीं हो सकता; इससे 'अन' प्रत्यय की अपेक्षा 'त' प्रत्यय कर और उसके 'त' का 'न' कर 'विहाण' बनाना उचिततर है। प्रस्तुत प्रभातार्थक 'विहाण' शब्द से हिन्दी का 'विहाना' और गूजराती का 'विहाणवुं' क्रियापद नीकलता है। 'विहाणी' प्रयोग, उक्त क्रियापद के भूतकाल का रूप है। 'विहाना' और 'विहाणवुं' का अर्थ दीपना–प्रकाशना। 'रयन विहानी' का अर्थ रात्री प्रभातरूप हुई–प्रभात के रूप में परिणत हुई–उद्योत हुआ। गूजराती कोशों में "विहाणवुं–गाळवुं; गुजारवुं" लिखकर 'विहाणवुं' का जो अर्थ दिया है, वह उसका व्युत्पत्त्यर्थ–धातुमूलक अर्थ–नहीं है मात्र उपचरित भावार्थ मात्र है, यह ख्याल में रहे।

१०. **निवारो**–निवारण करो–रोको।

सं० निवारयतु। प्रा० निवारउ–निवारो।

११. **नींद**–निद्रा–प्रमाद।

सं० निद्रा। प्रा० निद्दा–नींद–ऊंघ। 'निंदा' अर्थवाला 'निन्दा' शब्द और प्रस्तुत 'नींद' शब्द में शाब्दिक और आर्थिक दोनों प्रकार से जमीन आसमान का अन्तर है।

१२. **काज**–कार्य–काम–कर्तव्य।

सं० कार्य। प्रा० कज्ज–काज। 'कज्ज' शब्द से जो भाव द्योतित होता है उसी भाव में गुजराती में 'कारज'* शब्द का भी प्रचार है। यह 'कारज' का मूल 'कज्ज' नहीं परन्तु सीधा 'कार्य' है: कार्य–कारय–कारज। 'सूर्य' शब्द से जिस तरह 'सूरज' बनता है उसी तरह 'कार्य' शब्द से 'कारज' शब्द आता है। उच्चारण को मृदु करने के लिए 'र्य' के 'र्' और 'य्' के बीच में 'अ' बढ जाता है ऐसा प्राकृत भाषा का

---

* काठीयावाड में भावनगर के आसपास के प्रदेश में 'मृतभोजन' के लिए 'कारज' शब्द का व्यवहार है। कोई कालमें नामशेष स्वजनों के पीछे भोजन कराने की पद्धति अवश्य कर्तव्य जैसी होगी उसी कारण से वह पद्धति 'कारज' शब्द से संबोधित हुई होगी ऐसा अनुमान है। 'मृतभोजन' के अर्थ में 'कारज' शब्द का लाक्षणिक उपयोग है यह ख्याल में रहे।

बंधारण है । इस तरह जहां जहां कोई भी स्वर अधिक बढ जाता है उसको व्याकरणशास्त्र में 'अंतःस्वरवृद्धि' कहते हैं । 'अंतःस्वरवृद्धि' माने बीच में स्वर का बढ जाना । 'कारज' की तरह और भी ऐसे अनेक शब्द हैं जिनके संयुक्ताक्षर के उच्चारण को मृदु बनाने के लिए उस संयुक्त के बीच में वाग्व्यापार सापेक्ष 'अ' 'इ' 'उ' भी लक्ष्यानुसार बढ जाते हैं: दर्शन—दरिसण, पद्म—पदुम, इत्यादि । उक्त अंतःस्वरवृद्धियुक्त प्रयोगों को समजने के लिए हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण—आठवां अध्याय, द्वितीय पाद सूत्र १०० से ११५ देखने चाहिए ।

१२. **सुधारो**—शुद्ध करो—अच्छा बनाओ ।

'सुधारो' शब्द में दो पद हैं: शुद्ध और कार । 'शुद्धकार' का अर्थ 'शोधना'—'साफ करना' है । 'शुद्धकार' शब्द से संस्कृत क्रियापद 'शुद्धकारयति' का प्राकृत 'सुद्धकारइ' होता है । 'सुद्धकारइ' से अपभ्रष्ट होकर सुद्धआरइ—सुद्धारइ हुआ । प्रस्तुत 'सुद्धारइ' में हिन्दी 'सुधारना' गुजराती 'सुधारवुं' का मूल रहा हुआ है । अथवा गुजराती 'रमाडवुं' 'भमाडवुं' 'जमाडवुं' वगेरे क्रियावाचक शब्दों में प्रेरणादर्शक 'आड' (रम्-आड-अवुं-रमाडवुं) प्रत्यय लगा हुआ है, इसी तरह सं० 'शुध'—प्रा० 'सुध' धातु को भी प्रेरणासूचक 'आर' प्रत्यय लगाकर सुध्+आर्—सुधार्+अना-सुधारना क्रियापद बनाना अधिक उचित जान पडता

है । प्रस्तुत 'आर' वाली कल्पना योग्य हो तो 'वधारना' गुजराती 'वधारवुं' क्रियापद भी 'वृद्धि+कार' शब्द से न लाकर संस्कृत वृध् प्रा० वध् धातु को उक्त रीति से 'आर' प्रत्यय लगा कर 'वधारना' बनाने से अधिक सरलता दीखती है । हिन्दी 'वधारना' के स्थान में गुजराती में 'वधारवुं' शब्द प्रसिद्ध है । प्राकृत व्याकरण में मात्र एक 'भ्रम' धातु से प्रेरणासूचक 'आड' प्रत्यय लगाने का विधान हैं । "भ्रमेः आडो वा" –(८–३–१५१ हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण) तो भी 'उंघाडवुं' 'सुझाडवुं' 'दझाडवुं' वगेरे गुजराती क्रियावाचक पदों को देखने से उक्त 'आड' प्रत्यय की व्यापकता माननी पडती है । प्रस्तुत 'आड' को देख कर ही उपर्युक्त 'आर' प्रत्यय की कल्पना खडी हुई है और 'आड' तथा 'आर' में विशेष भेद भी नहीं है किन्तु विशेष साम्य है । अंत्य 'ड' और 'र' दोनों मूर्धन्य है ।

१४. **खिन**–क्षण–समय का एक लघुतम नाप ।

सं० क्षण–प्रा० खण । 'खण' उपर से 'खण' और 'खिन' । 'क्षण' का दूसरा उच्चारण 'छण' वा 'छिण' भी होता है । 'छिण' उपर से 'छिन' रूप आता है । प्राकृत भाषा में 'क्ष' का 'ख' उच्चारण अधिक व्यापक है और 'क्ष' के बदले में 'छ' तथा 'झ' का उच्चारण भी पाया जाता है फिर भी जितना 'ख' उच्चारण व्यापक है उतना इतर नहि । एक ही वर्ण के ऐसे

भिन्न भिन्न उच्चारण कहीं कहीं अर्थ भेद को भी बताते हैं और कहीं कहीं प्रांतिकता को भी; ऐसा जान पड़ता है। 'क्षण' का 'खण' उच्चारण कालदर्शक 'क्षण' को ज्ञापित करता है तब 'क्षण' का 'छण' उच्चारण उत्सववाची 'क्षण' शब्द का द्योतक है। मराठी भाषा में उत्सव के अर्थ में 'सण' शब्द का व्यवहार प्रचलित है। उत्सव वाचक 'सण' शब्द से 'काल' का भान तो होता है परन्तु 'क्षण' की तरह सामान्य काल का नहि, वह 'सण' शब्द काल विशेष को द्योतित करता है यह ख्याल में रहे।

मक्षिका—माखी, माछी (गूजराती)

अक्षि—आंख, आंछ (,,) इत्यादिक शब्दों में 'क्ष' के 'ख' और 'छ' दोनों उच्चारण प्रतीत है। 'क्षीण'—'झीण' जैसे प्रयोग में 'क्ष' का 'झ' उच्चारण है परन्तु अतिविरल। 'क्ष' के भिन्न भिन्न उच्चारणों को जानने के लिए देखो—(हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण, द्वितीयपाद सूत्र ३, १७, १८, १९, २०)

१५. **वेला वीत्यां**—वेला वीतने पर—प्राप्त समय जा चुकने पर।

सं० 'व्यतीत' शब्द में हिंदी 'वीतना' गूजराती 'वीतवुं' क्रियापद का मूल है। 'व्यतीत' के 'व्य' गत 'य' का संप्रसारण होने से 'वितीत'। 'वितीत' के 'ती' का 'त' लुप्त होने पर 'विईत'

और 'विईत' से 'वीत'। 'वीत' है तो भूतकृदन्तमूलक शब्द। 'मुक्त–मुक्क–मूकना' प्रयोग के समान 'व्यतीत–विईत–वीत –वीतना' होना चाहिए। 'व्यतीत' से 'वितीत', 'वितीत' से 'वितीअ' और 'वितीअ' से हिंदी का भूतकृदंत 'वीता' और गूजराती का 'वीत्युं' आता है। और स्वार्थिक 'इल्ल' प्रत्यययुक्त 'वितीएल्ल' पद से गूजराती का 'वीतेलुं' होता है।

व्यतीत–वितीत–वितीअ–वितीउं–वीत्युं (गूजराती)

वितीअ–वितीएल्लउं–वीतेलुं („)।

प्रस्तुत पद का 'वीत्यां' रूप 'वीत्युं' का सप्तमी विभक्तिवाला स्त्रीलिंगी रूप है। 'वेलायां व्यतीतायाम्' वाक्य का ठीक भाव 'वेला वीत्यां' से धोतित होता है अर्थात् 'वीत्यां' पद सतिसप्तमी का सूचक है।

सद्गत रा. रा. नरसिंहरावभाई,* गूजराती 'वीतवुं' क्रियापद को 'वि+इ' के भूतकृदंत 'वीत' उपर से निष्पन्न करते हैं और

---

* रा. रा. नरसिंहरावभाई के 'गुजराती भाषा अने साहित्य' नामक पुस्तक में 'वीत्युं' संबंधे जो उल्लेख किया गया है उसकी ओर मेरा लक्ष्य प्रस्तुत टिप्पणी लिखते लिखते गया। पहेले कभी उस तरफ मेरा लक्ष्य हुआ होता तो उनकी साथ एतद्विषयक विचारविनिमय अवश्य शक्य था। क्यों कि उनकी और मेरी बीच में विचारविनिमय का प्रसादमय पत्रव्यवहार तो था ही।

'वीत' में 'वीतने' का लोकप्रसिद्ध भाव को लाने के लिए लक्षणा का आश्रय करने को भी सूचित करते है ऐसा जान पडता है। वे लिखते हैं कि—

"सं० धातु.	क्तांतरूप.	प्रा.	गुज०	गुज०धातु०
वि+इ	९१ वीतकम्	वीतउं	वीत्युं	वीत्

'वीतकम्' नो अर्थ "गत, अतिक्रान्त" हेवो छे (जेम के वीतराग) पण वीत्युं (गुज.) एटले "अनुभव्युं" कारण के जे गयुं छे, जे (मनुष्य ने) वीत्युं छे ते ए मनुष्ये अनुभवेलुं छे" "म्हने शुं शुं वीत्युं ते कहुं" तेम ज आपवीती (जातनो अनुभव) परवीती (अन्यनो अनुभव) साधारणतः 'वीतवुं' अनिष्ट अनुभवमां वपराय छे।" (गूजराती भाषा अने साहित्य पृ० २३६ टि०९१)

'वीत' शब्द, संस्कृत साहित्य में कहीं भी 'वीतने' के भाव में आया ऐसा ज्ञात नहि और 'व्यतीत' शब्द तो 'वीतने' के भाव में सुप्रतीत है। तदुपरांत 'व्यतीत' से 'वीतने' को व्युत्पन्न करने में थोडी भी खींचातानी नहि करनी पडती है तब 'वीत' से 'वीतने' को लाने में उसके प्रसिद्ध अर्थ की संगति बताने के लिए खींचातानी आवश्यकसी हो जाती है। सद्गत श्री नरसिंहरावभाई ने 'वीतवुं' के मूल रूप के लिए जो कुछ लिखा है उसके संबंध में हमारा इतना ही उपर्युक्त नम्र कथन है। अत्र व्युत्पत्तिविदः प्रमाणम्।

१६. **पछतावो**—पश्चात्ताप—पस्ताना।

सं० पश्चात्+ताप—पश्चात्तापः प्रा. पच्छत्तावो । प्रस्तुत 'पच्छत्तावो' का मृदु उच्चारण 'पछतावो' होता है और उसका अतित्वरित उच्चारण 'पछ्तावो'—'पस्तावो'। 'पछ्तावो' में 'छ्' के बाद का 'त्' दंत्य होने से 'त्' के पूर्व का तालव्य 'छ्' भी वाग्व्यापार की प्रक्रिया के अनुसार दंत्य 'स्' के रूप में परिणत हो गया है। बलिष्ठ परवर्ण का योग होने पर पूर्व के दुर्बल वर्ण को परवर्ण की जातिमें आना पडता है ऐसा उच्चारणक्रिया का अद्भुत महिमा व्याकरण शास्त्र में स्थल स्थल पर अंकित हुआ है: कः+तरति=कस्तरति । कः+टीकते=कष्टीकते । कः+चरति=कश्चरति इत्यादि। काठियावाड के कितनेक ग्रामीण लोक उच्चारण को अतिमृदु करने के लिए 'पस्तावो' के स्थान में 'पहटावो' भी बोलते हैं।

प्रस्तुत प्रथम भजन प्रातःकाल में गाने योग्य है। और विशेष गंभीरता के साथ मननीय भी है। भजन में 'अमृतवेला' शब्द से 'ब्राह्ममुहूर्त' का सूचन किया गया है।

भजन २ रा

१७ **पांत**—समान जाति वालोंके साथ एक पंक्ति में बैठकर खानेकी योग्यता रखना।

सं० पङ्क्ति। प्रा० पंति। 'पंति' उपर से पांत।

'पङ्क्ति' उपरसे सीधा 'पंगत' (गुजराती) पद आता है। 'पांत' और 'पंगत' दोनोंका समान अर्थ है तो भी रूढिवशात् 'पांत' और 'पंगत'का उपयोग भिन्न भिन्न प्रसंगमें होता है।

श्रीमीरांबाइके—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई" इस भजन के साथ प्रस्तुत द्वितीय भजनकी तुलना करनी चाहिए।

प्रस्तुत भजनमें भजनकार अपने खुदके लिए "जाति पांत खोई" ऐसा कथन करता है उसका भावार्थ इस प्रकार होना चाहिए।

श्रीमीरांबाईने भी अपने भजनमें अपने खुद के लिये ऐसा ही कहा है। श्री मीरांबाईने अपनी कल्पित जातपांत क्यों खोई और किस प्रकार खोई? इसका उत्तर सुप्रतीत है। परंतु भजन कार ज्ञानानंदजीने अपनी स्वजातिके लिए जो उपर्युक्त प्रयोग किया है उसके संबंध में उनके जीवनकी खास कोई घटना ज्ञात नहि है तो भी उनके उपर्युक्त उल्लेखके लिए एक कल्पना हो सकती है:

सम्यग्ज्ञानस्पर्शित विवेकी मानवका विकास होता रहता है अर्थात् उनके जीवनमें रूढाचरण अन्तर्हित होकर जीवनशुद्धि को करने वाले सदाचरण प्रतिदिन प्रकटते रहते हैं और पलटते भी रहते हैं। जब ऐसा होता है तब वह विवेकी, गड्डरिका-

प्रवाहमें कभी नहि चलता, इस कारण गड्डरिकाप्रवाहानुसारी उनके सहचर उस विवेकी को अपनेसे पृथक् समजते हैं और जब वह विवेकी, गड्डरिकाप्रवाह की मूलभूत अविद्या व रूढिको सर्वथा छोडकर उसका प्रतिवाद करता है तब उसको जातिसे बहार भी घोषित करते हैं। इस दृष्टिको लेकर भजनकारके उक्त शब्द समजमें आ जाते हैं और उनके जीवनमें ऐसी कोई घटना भी घटी होगी ऐसी कल्पना असंगत नहीं दीखती।

गड्डरिकाप्रवाह के अगुओंने आनंदघन जैसे पवित्र पुरुषको भी जातबहार घोषित किया था यह हकीकत जैनसमाजमें सुप्रतीत है। सत्संस्कारसंपन्न श्रीमान् रायचंद भाई के संबंधमें भी ऐसा ही व्यवहार किया गया था। वैदिक परंपरामें भी भक्तराज नरसिंह महेता, संत तुकाराम और पूज्य गांधीजी के लिए भी गड्डरिकाप्रवाहगामी सनातनी लोग ऐसा ही व्यवहार कर रहे हैं।

१८. फैल—फैलना—प्रसरना—प्रचार होना।

गु० 'फेलवुं' और हिन्दी 'फैलना' दोनें समानार्थक क्रियापद हैं। 'फैलता है' अर्थ में 'पयल्लइ' क्रियापद का प्रचार प्राकृत भाषा में प्रतीत है। 'प्र'+'सर' के आदेश को बताते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि "प्रसरेः पयल्ल—उवेल्लौ"—(८—४—७७) अर्थात् 'प्र+सर्' के अर्थ में 'पयल्ल' और 'उवेल्ल' यह दो धातुओं का उपयोग करना चाहिए।

विशेष विचार करने से प्रतीत होता है कि 'प्रसर' और 'पयल्ल' के बीच में अर्थसाम्य उपरांत शब्दसाम्य भी है। कोई भी वक्ता कैसा भी अपभ्रष्ट उच्चारण करे तो भी कंठ वगेरे स्थान,[१] आस्य[२] प्रयत्न, करण[३] और बाह्य[४] प्रयत्न इन सब का ऐसा व्यापार बनता है कि अपभ्रष्ट वक्ता भी मूल अक्षरों के स्थान में प्रायः ऐसा ही दूसरा वर्ण बोलता है कि मूल अक्षर और उच्चारणाघात दूसरा वर्ण ये दोनों के बीच में कंठस्थानादि की अपेक्षा अवश्य समानता होती है। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश वा प्रचलित कोई भी भाषा हो वे सब उच्चारण की उक्त मर्यादा को नहि लांघती। इस मर्यादा को लेकर 'पयल्ल' और 'प्रसर' की भी परीक्षा करनी चाहिए। वाग्व्यापार की प्रक्रिया देखने से तो 'प्रसर' की अपेक्षा 'प्रचर्' से 'पयल्ल' आना ठीक क्रमिक मालूम होता है : प्र+चर्—प+चर्—प+यल्—प+यल्ल्—पयल्ल्। यदि 'प्र+सर्' से 'पयल्ल' को लाना हो तो—प्र+सर्—प+हर्—प+यर्—

---

१. स्थान आठ हैं: कंठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दंत, नासिका, ओष्ठ अने तालु।

२. आस्य प्रयत्न चार हैं:—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और ईषद्विवृत।

३. करण तीन हैं:-जिह्वाके मूलका मध्य, अग्र, और उपाग्र।

४. बाह्य प्रयत्न आठ हैं:—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण।

प+यल्—प+यल्ल्—पयल्ल् । प्रस्तुत 'पयल्ल' से 'फैलना' और गु० 'फेलवुं' क्रियापद आया है:—पयल्ल—पइल्ल—पेल्ल—फेल—'फैलना' या 'फेलवुं' ।

घाति करम

आत्मा के मूल शुद्धतम स्वभाव को नाश करनेवाले संस्कार का—काम क्रोध लोभ मद मोह माया मत्सर को बढाने वाले संस्कार का — जैन पारिभाषिक नाम 'घाति कर्म है । कर्म से करम । अन्तःस्वरवृद्धि । देखो 'काज' की टिप्पणी १२ ।

खायक

जिन जिन सद्वृत्तियां द्वारा क्रोध मान माया और लोभ वगैरे दुष्ट वृत्तियां सर्वथा क्षीण हो जाय वा क्रोधादिक दुर्वृत्तियां मन्द मन्दतर मन्दतम हो जाय वे सब सद्वृत्तियों का जैन पारिभाषिक नाम क्षायक—खायक—भाव है । क्षायक—दुष्ट वृत्तियों का क्षय करनेवाला ।

भजन ३ सरा

१९. **पूंजी**—धनमाल घर वाडी खेत वगैरे।

संस्कृत का 'पुञ्ज' शब्द 'समूह' अर्थ का द्योतक है। अमरकोशकार कहता है कि "स्याद् निकायः पुञ्ज-राशी"—(सिंहादिवर्ग द्वितीयकांड श्लो० ४२) हेमचंद्राचार्य भी कहते हैं कि "पुञ्ज—उत्करौ संहतिः"—(अभिधानचिंतामणि छट्ठा

कांड श्लो० ४७) अमरकोश का टीकाकार महेश्वर कहता है कि "चत्वारि धान्यादिराशेः" अर्थात् पुञ्ज, उत्कर, राशि और कूट शब्द से धान्य वगैरे का ढेर, बोधित होता है। पुञ्ज माने धान्य आदि का बडा ढेर। 'पुञ्ज' शब्द से 'पुञ्जिका' शब्द हुआ और 'पुञ्जिका' से प्राकृत 'पुंजिआ' शब्द आया। प्रस्तुत 'पूंजी' शब्द, 'पुंजिआ' से आया मालूम होता है। 'पुञ्ज' का उक्त अर्थ और 'पुञ्ज' से बना हुआ 'पूंजी' का प्रचलित अर्थ उन दोनों अर्थों में विशेष भेद नहि हैं। धान्य, घर, आभूषण, बाडी, खेत यह सब 'पूंजी' में ही समा जाता है। प्राचीन समय में तो धातु के कागज के वा चमडे के मुद्रित सिक्कों की अपेक्षा धान्य वगैरे ही स्थिर धन गिना जाता था।

२० **परमाद**—प्रमाद—आलस्य—स्वार्थपरायणता।

सं० 'प्रमाद' से सीधा 'परमाद' पद आया है। 'प्र' के संयुक्त उच्चारण को सरल करने के लिए उसमें 'अ' कारका प्रक्षेप किया गया है। इस प्रकार कितने ही संयुक्त अक्षरों में 'अन्तःस्वरवृद्धि' होती है। 'काज' शब्द का टिप्पण १२ देखो।

'परमाद' का अर्थ आलस्य है। आलस्य का स्पष्ट भाव स्वार्थपरायणता है। अपने निजी वैभव विलास के हेतु, दूसरे प्राणिओं के प्राणों की उपेक्षा—अपने से भिन्न मनुष्य वगैरे प्राणिओं के जीवन की उपेक्षा का नाम स्वार्थपरायणता है।

१ मद्यपान याने कोई भी केफी पदार्थ का सेवन करना–मद्यपान करना, किसी भी आसवको पीना, तमाकु सुंघना, बीडी पीना, चरस गांजा इत्यादि पीना। २ विषय विलासोमें मस्त रहना। ३ क्रोध लोभ आदि दुष्ट संस्कारोंको पुष्ट बनाना। ४ किसीकी व्यक्तिगत निंदा करना। ५ जीवनके वास्तविक विकासको रोध करनेवाली कथाएं कहना वा पढना अथवा मिथ्या गपशप लगाना। इस प्रकार जैनशास्त्रमें प्रमाद के पांच भेद बताये हैं।

२१ निरखो–देखो–बराबर नजर करो।

सं० निर्+ईक्ष धातुसे प्रा० 'निरिक्ख'। 'निरिक्ख' पदसे 'नीरखना'। गूजराती 'नीरखवुं'। 'निरिक्खउ' क्रियापदसे निरीखउ–नीरखो।

२२ करो

सं० कर–करतु–प्रा० करउ। 'करउ'से करो

२३ वधार्यो–बढाया

पूर्वोक्त 'सुधारो' की (देखो टिप्पण १३) व्युत्पत्तिमें जो कुछ बताया है वह सब प्रस्तुत 'वधार्यो' के संबंधमें भी अक्षरशः समजना। 'वधार्यो' भूतकालदर्शक कृदंत है। उसकी निष्पत्ति का क्रम इस प्रकार बन सकता है। सं० 'वृध्' से प्रा० वध्। प्रस्तुत 'वध्' को प्रेरणा सूचक 'आर' प्रत्यय जोडने से 'वधार'

और 'ववार'का भूतकृदंत 'वघारिय'। 'वघारिय' के प्रथमा का बहु-चचन 'वघारिया'। 'वघारिया' का त्वरित उच्चारण 'वघार्या'। अथवा अन्य क्रमः—'वृद्धिकार'-वुद्धिआर—वद्धिआर—वद्धार—वघार। प्रस्तुत 'वघार' का भूतकृदंत 'वघारिअ' से उक्त रीति से 'वघार्या'।

२४. फिलावो—प्रसार करो।

मूल धातु प्रा० 'पयल्ल' का प्रेरकरूप 'पयल्लावेउ'। 'पयल्लावेउ' से 'फिलावो' वा 'फेलावो' क्रियापद आता है। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन 'फैल'की टि० १८ में किया गया है।

२५. गहो—ग्रहण करो।

सं० ग्रह प्रा० गह—गहउ—गहो।

२६. रमावो--रमण करो—रमो।

मूल धातु 'रम्' से प्राकृत प्रेरक 'रमावउ'। 'रमावउ' से प्रस्तुत रमावो।

प्राकृत में प्रेरणादर्शक 'अ' 'ए' 'आव' और 'आवे' प्रत्यय का उपयोग है। इसके लिए हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का अध्याय अष्टम, तृतीयपाद सूत्र १५०–१५१–१५२ को देखना चाहिए।

भजन ४ था

२७. तसकर—चोर—डाकु—लुंट करनेवाले।

सं० 'तस्कर' के संयुक्त 'स्क' में 'अ' की अंतःस्वरवृद्धि

होने से 'तसकर' होता है। 'तस्कर' की व्युत्पत्ति को दिखलाते हुए वैयाकरण और कोशकार 'तस्कर' पद में 'तत्+कर' ऐसे दो पद बताते हैं। परन्तु 'तस्कर' के अर्थ को देखने से 'तत्+कर' ऐसा पृथक्करण घटमान नहि होता। कोशो में 'चौर' वाची जितने शब्द आए हैं उन सब में साक्षात् वा परंपरा से 'चौर्य' का भाव पाया जाता है किंतु प्रस्तुत 'तस्कर' की 'तत्+कर' व्युत्पत्ति में चौर्य के भाव का गंध भी नहि। इस संबंध में विचार करने से मालूम होता है कि 'तस्कर' का मूलभूत कोई प्राचीन देश्य शब्द होगा जिस को संस्कार कर 'तस्कर' शब्द बनाया हो अथवा त्रास सूचक 'त्रस्' धातु से 'तस्कर' का 'तस्' भाग बना हो। कुछ भी हो परंतु 'तत्+कर' से 'तस्कर' बनाने की रीत बराबर नहि लगती। शब्दशोधक साक्षर इस ओर जरूर लक्ष्य करें।

२८. निहाले—देखे—बराबर देखे

सं० निभालयते प्रा० 'निहालए' वा 'निहालइ'। उस पर से 'निहाले'। आचार्य हेमचंद्र अपने धातुपारायण में "भलिण् आभण्डने" धातु बताते हैं। "आभण्डनम्—निरूपणम्"—(धातुपारायण पृ० २६९) 'भल्' धातु दसमा गण का है, उसका अर्थ 'निरूपण' है। 'निरूपग' का व्यापक भाव, 'निहालने' में संकुचित हुआ है ऐसी एक कल्पना। अथवा 'नि'

उपसर्ग के साथ 'भल्' धातु का अर्थ 'प्रत्यक्षीकरण' हो गया हो। वाग्व्यापार के क्रम को देखने से 'निभाल' से 'निहाल' को लाना ठीक मालूम होता है।

२९. **हेगा**–होगा।

'हेगा' पद 'होगा' के अर्थ में आया है। दिल्ली तरफ के लोक अपनी बोलचाल की भाषा में 'होगा' के बदले 'हेगा' का व्यवहार असंकोच से करते हैं। दिल्ली के एक मेरे मित्र अपने पत्रव्यवहार में 'होगा' नहि लिखते किन्तु 'हेगा' लिखते हैं।

३०. **परना**–पड जाना।

सं० पतन प्रा० पडण। 'पडण' से 'परना'। प्राकृत में 'पतन' के 'न' का 'ण' हुआ, 'ण' के प्रभाव से 'त' को 'ड' में आना पडा। 'ण' मूर्धन्य होने से ऐसा परिवर्तन हो गया। बाद 'ड' का 'र' हो गया। 'ण,' 'ड,' 'र' ये सब मूर्धन्य-स्थानीय वर्ण हैं।

भजन ५ वां

३१. **पहिराया**–पहिराना।

सं० परि+धा–प्रा० परि+हा। 'परिहा' के 'र' और 'ह' का व्यत्यय होने से 'पहिरा' हुआ। प्रस्तुत 'पहिरा' में 'पहेरना' वा 'पहेरवुं' (गुज०) क्रियापद का मूल है। प्राकृत में और

अन्य अधिक व्यापक लोक भाषा में अनेक स्थलों में अक्षरों का व्यत्यय होता हैं । वक्ता के त्वरा और अज्ञान, उक्त व्यत्यय के कारण प्रतीत होते हैं ।

'वाराणसी' का 'वाणारसी' । 'अचलपुर' का 'अलचपुर' । 'आलान' का 'आनाल' । 'महाराष्ट्र' का 'मरहट्ठ' । 'ह्रद' का 'द्रह' । 'हिंस' का 'सिंह' वगेर । व्यत्यय के ओर अधिक प्रयोग देखने के लिए हेमचंद्र प्राकृत व्याकरण ८–२–११६ से १२४ सूत्र को देखो ।

३२ **चवदह**–चौदह

सं० चतुर्दश–चउदस–चउदह–चवदह । 'चवदह' में मूल 'चतु' का 'उ', 'व' में परिणत हो गया है । 'व' और 'उ' दोनों ओष्ठस्थानीय है ।

३३. **भांति**–प्रकार–विविधता

सं० भक्ति–प्रा० भत्ति–भंति–भांति–भांत–भात । 'पांच' शब्द में जिस प्रकार अनुस्वार का मृदु उच्चारण है उसी प्रकार प्रस्तुत 'भांत' में भी समजना चाहिए । आचार्य हेमचंद्रने 'भक्ति' के अर्थ इस प्रकार बताये हैं ।

"भक्तिः सेवा–गौणवृत्त्योः भङ्ग्यां श्रद्धा–विभागयोः"— (अनेकार्थसंग्रह द्वितीयकांड श्लो० १७९) प्रस्तुत में उक्त अर्थों में गिनाया हुआ 'भङ्गि' अर्थ उपयुक्त है । भङ्गि=विच्छित्ति ।

विच्छित्ति=विविध प्रकार का छेदन—विविध प्रकार का भाग—भिन्न भिन्न प्रकार। 'विच्छित्ति' अर्थवाले 'भक्ति' शब्द की निष्पत्ति 'भंज्' धातु से है और सेवा अर्थवाला 'भक्ति' शब्द, 'भज' धातु से बना है यह ख्याल में रहे।

३४. **धायो**—तृप्त हुआ।

स० 'घ्रात' से प्रा० धात—धाय। 'धाय' का प्रथमैक-वचन 'धायो' और सं० 'घ्रात' में अन्तःस्वरवृद्धि होकर 'धरात' हुआ। 'धरात' का प्रा० 'धराय' और उससे 'धरायो' होता है। अर्थात् 'धायो' और 'धरायो' दोनों का मूल 'घ्रात' शब्द में है। "घ्रैं तृप्तौ" धातु भ्वादि गण में है। 'तृप्ति' का अर्थ प्रतीत है। 'धरावुं' (गुज०) और 'धराना' क्रियापद का मूल प्रस्तुत 'घ्रै' धातु में है।

३५. **भाया**—भाइ—भैया।

सं० भ्राता—प्रा० भाया। प्रा० 'भाया' से 'भाउ' 'भैया' 'भाया' और 'भाई' इत्यादि अनेक रूप होते हैं।

३६. **भाया**—पसन्द आया।

सं० 'भावितक' से प्रा० भाविअअ। 'भाविअअ' का 'व' लुप्त होकर 'भाइअअ'। उससे उच्चारण त्वरा के कारण 'भाय' और 'भाय' से 'भाया'। 'भाव्युं' (गुज०) पद भी 'भावितक' का

ही रूपांतर है। 'भाववुं' वा 'फाववुं' (गुज०) क्रियापद का मूल भी 'भू' धातु जन्य 'भावि' धातु में है।

भजन ६ वां

३७. **प्यारे**—वहाला—प्रियतम।

सं० प्रियकार—प्रा० पियआर—पियार—प्यार। 'प्रियकार' का अर्थ 'प्रिय करनेवाला—इष्ट करनेवाला'। प्रस्तुत 'पियार' शब्द का उपयोग, तेरहवीं शताब्दी के 'कुमारपालप्रतिबोध' नामक ग्रंथमें हुआ है और भविष्यद्दतकथामें भी हुआ है। 'पियार' शब्द, अपभ्रंशप्राकृत का है। कुम्भकार—कुंभार। लोहकार—लोहार। उसी प्रकार 'प्रियकार' से 'पियार' शब्द आया है अथवा सं० 'प्रियतर' शब्द से भी 'पियार' शब्द की निष्पत्ति हो सकती है (?)

३८. **जावनो**—जाना—गमन करना।

सं० या—प्रा० जा। 'जावुं' (गुज०) और 'जाना' ये दोनों क्रियापदों का मूल 'जा' धातुमें है।

३९. **लपटयो**—लिप्त—आसक्त।

सं० 'लिप्तक' से प्रा० लिपतिय—लिपटिय—लपटिअ—लपटयो।

'लिप्तक' में 'अन्तःस्वरवृद्धि' होने से 'लिपतिअ' और 'त' का 'ट' रूप परिणाम से 'लिपटिअ' हुआ। प्रस्तुत 'लपटयो' का पूर्वरूप लिपटिअ' है। कीतनेक बोलनेवाले दन्त्य अक्षरों को नहि बोल सकते परंतु उन के स्थानमें मूर्धन्य अक्षरों का उच्चारण

करते हैं। प्रस्तुतमें 'त' के 'ट' होने का ऐसा हि कुछ कारण होना चाहिए। 'लिपटना' और 'लपटवुं' (गुज०) क्रियापद भी उक्त 'लिप्त' से आया है।

४०. **नीसरजावो**—नीकलजाओ—बहार नीकलो।

सं० 'निःसर' से प्रा० 'नीसर' धातु। काठियावाड के ग्रामीण लोग 'नीहरवुं' पद का भी प्रयोग करते हैं। उसका भी मूल प्रस्तुत 'नीसर' में है।

'नीसर जावो' यह पद अखंड है वा उसमें 'नीसर' और 'जावो' ऐसे दो पद हैं? यह प्रश्न विशेष विचारणीय है। प्राकृत भाषा में उपयुक्त क्रियापदों के प्रत्ययों को देखने से मालूम होता है कि 'नीसर जावो' यह कदाच अखंड क्रियापद भी हो। 'हो' धातु के आज्ञार्थ वा विध्यर्थ तृतीयपुरुष एकवचन में 'होएज्जाउ' वा 'होज्जाउ' रूप होते हैं। 'होएज्जाउ' का अर्थ है 'होजाओ'। प्रस्तुत 'होजाओ' पद का उपयोग प्रचलित हिंदी में सुप्रतीत है। यह 'होएज्जाउ' वा 'होज्जाउ' पद प्राकृत में अखंड है—उसमें मूल धातु 'हो' है और 'एज्जाउ' वा 'ज्जाउ' अंश प्रत्यय का है। 'होएज्जाउ' पद के अनुसार 'होजाओ' पद अखंड न बन सके? और उसी के अनुसार 'नीसर' से 'नीसरेज्जाउ' क्रियापद बना कर उससे 'नीसरिज्जाउ'—नीसरजाओ—नीसरजावो ऐसा क्यों न हो सके? 'नीसरिज्जाउ' क्रियापद

प्राकृत के 'बहुलम्' नियम से बन सकेगा यह ख्याल में रहे। तात्पर्य यह है कि लाइज्जाउ—लेजाओ। खाइज्जाउ—खाजाओ। दाइज्जाउ—देजाओ। इत्यादिक में 'ला', 'खा' और 'दा' प्रभृति मूल धातु है और 'इज्जाउ' इतना अंश प्रत्यय का अखंड है ऐसी कल्पना हो सकती है और इस कल्पना में व्याकरण का बाध नहि है। अब दूसरा एक ओर प्रश्न ऊठता है कि जिस प्रकार 'लेजाओ' इत्यादि अखंड क्रियापद हो तो क्रिया के पूर्ण-भाव को बताने वाले 'खा गया' 'कर गया' 'ले गया' 'दे गया' वगेरे पद भी अखंड है वा उनमें 'खा' 'गया' 'कर' 'गया' इस तरह भिन्न भिन्न अंश है? प्रस्तुत प्रश्न और उपर्युक्त 'लेजाओ' इत्यादिक की अखंडता की कल्पना भी विशेष विचारणीय है और इसकी चर्चा विशेष विचार तथा अधिक समय की अपेक्षा रखती है उस से इस चर्चा को अन्य प्रसंग पर रखना उचित है। 'खा गया' 'सो गया' इत्यादि पदों में जो 'गया' अंश है वह 'गम्' धात्वर्थ का बोध नहि कराता परंतु उसके पूर्वग 'खा' 'सो' इत्यादिक से जो जो क्रियाएं सूचित होती है उन सब की पूर्णता को बताता है यह बात ख्याल में रहे। यदि 'खा' 'सो' इत्यादि पद 'खादित्वा' 'सुप्त्वा' की तरह संबंधक भूतकृदंत हो और 'गयो' पद 'गम्' धात्वर्थ का बोधक हो तो तो प्रस्तुत अखंड वा सखंड की चर्चा की आवश्यकत

ही नहि । क्योंकि 'खा गया' का अर्थ 'खाकर गया' और 'सो गया' का अर्थ 'सोकर गया' ऐसा हो तो 'खा गया' 'सो गया' ये दोनों पद भिन्न ही है—उसमें कोई विवाद नहि ।

४१. **इग**—एक

सं० एक प्रा० इक्क—इक—इग

४२. **छिन**—क्षण—कम से कम काल

'खिन' का टिप्पण १४ देखो ।

भजन ७ वां

४३ **अवधू**—अवधूत—मस्त—आत्मलक्षी—आत्मा की धुन वाला

सं० अवधूत प्रा० अवधूअ अवधूत	}	अवधू—अवधू अवधूत

अथवा 'अवधू' की अन्य व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है:

सं० आत्मधूत—प्रा० अप्पधूत अप्पधूअ	}	अवधूत, अवधू, अवधू

प्रस्तुत अन्य व्युत्पत्ति में अर्थदृष्टि से भी असंगतता नहि है। आत्मना धूतः—आत्मधूतः अथवा आत्मा धूतः यस्य असौ आत्मधूतः इस प्रकार तत्पुरुष वा बहुव्रीहि समास घट सकता है। 'धूत' शब्द 'महान् त्यागी'—'महान् संयमी'—'उग्र आत्म

लक्षी' के भाव को बतानेके लिए जैन आगमोमें और अन्य साहित्य में भी प्रसिद्ध है अर्थात् जो पुरुष, आध्यात्मिक दृष्टिसे संयमी–त्यागी वा आत्मलक्षी हो वह 'आत्मधूत' कहा जाता है। 'धूत' के उक्त अर्थ को दृढ करने के लिए आचाराङ्ग सूत्र का 'धूत' नामक अध्ययन पर्याप्त है। समासमें पूर्व निपातका नियम प्राकृत में नियत नहि इससे बहुव्रीहि समास में भी 'आत्मधूत' होने को बाधा नहि।

४४ **ताता**–तप्त–उष्ण–गरम

सं० तप्त–प्रा० तत्त–ताता। तातुं. (गु०) 'ताती तरवार' प्रयोगमें 'ताती' शब्द तरवार की गरमी–तीक्ष्णता–को सूचित करता है।

४५ **घरटी**–आटा पीसने की घंटी

'घरट्टी' शब्द देश्य प्रतीत होता है। देशी नाममाला में तीसरे वर्ग के श्लोक दसवेंकी टीका में आचार्य हेमचंद्र 'चिंचणी' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'घरट्टी' और 'घरट्टिका' ऐसे दो शब्दों का निर्देश करते हैं: 'घरट्टी' की व्युत्पत्ति अकलित है। वह शब्द देश्य होनेसे अधिक प्राचीन होने की संभावना अनुचित नहि। 'जल खींचने का यंत्र' इस अर्थका बोधक 'अरघट्टक' शब्द के साथ प्रस्तुत 'घरट्टी' का साम्य हो ऐसा प्रतीत होता है। 'अरघट्टक'का स्त्रीलिंगी रूप 'अरघट्टिका' होता है, उस पर

से वर्णलोप और वर्णव्यत्यय पा कर 'घरट्टिका' वा 'घरट्टी' शब्द बना हो !!! निश्चित नहि। अथवा जब पीसते हैं तब 'घड घड' ध्वनि होता है। उस ध्वनि के अनुकरण द्वारा 'घरट्टी' शब्द आया हो!!! प्रचलित 'घंटी' शब्द का मूल तो 'घरट्टी' में है। 'घरट्टी' के 'र' का, परवर्ती 'ट्ट' के ध्वनिप्राबल्य से 'ड' उच्चारण हुआ और वह 'ड', 'ण' रूप में परिणत होकर 'घंटी' शब्द हुआ। 'र' 'ड' और 'ण' सब वर्ण मूर्धन्य है यह ख्याल में रहे। 'तेल पीलने की घाण।' वाचक 'घाणो' वा 'घाणी' शब्द कदाच प्रस्तुत 'घंटी' के साथ सम्बन्ध रखता हो: घण्टी—घण्णी—घाणी। 'घरट्टी' 'घण्टी' और 'घाणी' की वास्तविक व्युत्पत्ति पर कोई महाशय अधिक प्रकाश डाले यह इष्ट है।

अथवा 'घंटी' शब्द के लिए एक और कल्पना हो सकती है:

'चलन' अर्थवाला 'घट्ट' धातु, प्रथम गणमें और दशवें गण में विद्यमान है। उस धातु से 'घट्टते' अथवा 'घट्टयति' या सा 'घट्टिका' शब्द हो सकता है। 'घट्टिका' पर से 'वक्र' के 'वंक' प्रयोग के समान 'घंटिआ' शब्द होकर उससे 'घंटी' शब्द हो सकता है और पूर्वोक्त 'घाणी' शब्द भी इसी प्रकार से आ सकता है। 'घाणी' और 'घंटी' का मूल एक होने पर भी जो उच्चारण भेद हुआ है वह अर्थभेद का द्योतक हो!!! और

देश्य माना हुआ 'घरट्टी' शब्द भी कदाच 'घट्टिका' में 'र' के के प्रक्षेप से बना हो !!!

४६. **आटो**—आटा—पीसा हुआ लोट।

अपने अनेकार्थसंग्रह कोश में 'अट्ट' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं कि "अट्टो हट्ट—अट्टालकयोर्भृशे। चतुष्क—भक्तयोः"—(द्वितीय कांड श्लो० ७८—७९) उक्त श्लोक के टीकाकार महेन्द्रसूरि 'अट्ट' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि—भक्तं गोधूमादिचूर्णम्"—(टीका पृ० १६) अर्थात् अट्ट माने गेहूं विगेरे का चूर्ण—लोट—आटा। प्रस्तुत उल्लेख को देखने से मालूम होता है कि आटा अर्थवाला 'अट्ट' शब्द संस्कृत कोशों में है। भाषा में प्रचलित 'आटा' शब्द उक्त 'अट्ट' का रूपान्तर है। 'अट्ट' शब्द में मूल धातु 'अद्' होना चाहिए क्योंकि 'आटा' खाद्य पदार्थ है और 'अद्' धातु का अर्थ भी 'खाना' है। तो भी वैयाकरण हेमचन्द्रसूरि ने 'अट्ट' शब्द का मूल हिंसा अर्थवाला 'अट्ट' धातु बताया है। 'आटा' का विशेष संबन्ध खाने के साथ है इसलिए उसके मूल में 'अद्' धातु की कल्पना ठीक लगती है परन्तु 'आटा' बनाने में हिंसा भी है इसलिए 'अट्ट' के मूल में हिंसार्थ वाला 'अट्ट' धातु की भी कल्पना अनुचित नहीं। गुजराती भाषा में तो 'आटा' शब्द का उपयोग त्रास को भी बताता है:

'काम करी करीने आटो नीकळी गयो' अर्थात् 'काम कर करके अधिक त्रास हुआ' प्रस्तुत उपयोग लाक्षणिक है। मूल 'अट्ट' शब्द शुद्ध संस्कृत है कि देश्य है? यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है।

४७ **वटमें**—मार्गमें

सं० वर्त्म—प्रा० वट्ट। 'वट्ट' उपर से 'वाट', 'वट'। गूजराती 'वटेमार्गु'—(प्रवासी) के 'वटे' के मूलमें भी प्रस्तुत 'वट्ट' है परंतु वहां का 'वटे' सप्तमी विभक्ति युक्त मालूम होता है।

भजन ८ वां

४८ **विनजारा**—वणजारा—घूम फिर कर व्यापार करनेवाला।

सं० वाणिज्यकार—प्रा० वाणिज्जकार—वाणिज्जआर—वाणिज्जार—'वणजार' वा 'विनजार'। 'वाणिज्य' शब्द के मूल में व्यवहार अर्थ का द्योतक 'पण' धातु है। व्यापार करने वाली प्राचीन जाति का द्योतक 'पणि' शब्द का संबंध भी 'पण' धातु से है।

४९. लह्यो—लिया—प्राप्त किया।

सं० 'लभ' से प्रा० लभिअ। 'लभिअ' से लहिअ और 'लहिअ' का लह्यो।

५०. टांडो—समूह—जत्था।

'टांडो' शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है।

भजन ९ वां

५१. **सूना**–शून्य–खाली।

सं० शून्य–प्रा० सुन्न। 'सुन्न' से सूना। गुज० सूनुं।

५२. **चूनियो**–चूना–बंधाया।

सं० 'चिनोति' के 'चिनो' उपर से प्रा० 'चिण' धातु आया है। 'चिण' का भूतकृदंत 'चिणिअ'। 'चिणिअ'में आद्य स्वर का परिवर्तन होने से 'चुणिअ'। 'चुणिअ' से 'चुनियो' और 'चिणिअ' से चण्यो (गुज०) हिंदी का 'चुनना' और गुजराती के 'चणवुं' क्रियापद का का मूल धातु 'चिण्' है।

५३. **एह**–ए।

सं० एषः–प्रा. एस। 'एस' उपर से 'एह' वा 'ए' दोनों रूप आते हैं।

भजन १० वां

५४. **सवगत**–सर्वव्यापक

सं० सर्वगत–प्रा० सव्वगत–सव्वगअ। प्रा० 'सव्वगत' से 'सवगत' पद आया है।

५५. **जाने**–जाने–समजे

सं० जानाति–प्रा० जाणइ–जाणे
जानइ–जाने } –समजे।

५६. **जगपरिमित**—जगत के समान परिमाणवाला—जगत जैसा बडा ।

सं० जगत्परिमित—प्रा० जगपरिमित ।

५७. **माने**—जाने—समजे ।

सं० मन्यते प्रा० मन्नइ—मानइ—माने ।

"मनिंच् ज्ञाने"—(धातु पारायण चौथा गण अंक १२०) प्रसिद्ध 'मन्' धातु, संस्कृत धातु कोशो में 'ज्ञान' अर्थवाला बताया है ।

भजन ११ वाँ

५८. **मीता**—मित्र ।

सं० मित्र—प्रा० मित्त । 'मित्त' पर से मीता ।

५९. **पायो**—प्राप्त किया ।

सं० प्राप्त—प्रा० पापित—पाविअ—पाइअ—पाय—पायो । प्रा०—पापित—पाविअ—पामिअ—पाम्यो । 'पाम्यो' शब्द गूजराती है ।

६०. **परतीता**—प्रतीति होनी—विश्वास होना ।

सं० 'प्रतीत' से सीधा 'परतीता' पद आया है। 'प्र' में 'अ' कार का प्रक्षेप करने से उसकी निष्पत्ति होती है ।

६१. परख—स्वपक्ष—स्वमत का आग्रह ।

सं पक्ष—प्रा० पक्ख । 'पक्ख' से पख ।

'पाखे' 'पांख' 'पंखी' 'पंखा' ये सब शब्दों के मूलमें भी 'पक्ष' शब्द है। 'पखाज' शब्द का 'पख' भी 'पक्ष' जन्य है। (पखाज—पक्षवाद्य)

६२. **भांखे**—भाषण करे—बोले

सं० भाषते। 'ष' का 'ख' उच्चारण करने से 'भाखते'। 'भाखते' से 'भाखे' वा 'भांखे'। 'भा' के 'आ' का अनुनासिक ध्वनि करने से 'भा' का 'भां' हो जाता है। एक अवर्ण के अढार भेद है और उसमें उसका अनुनासिक भेद भी समाविष्ट है।

६३. **रीता**—खाली—निष्फल।

सं० रिक्त—प्रा० रित्त। 'रित्त' से रीता। 'रिक्त' में मूल धातु 'रिच्' है।

६४. **छिनाला**—व्यभिचारी। प्रस्तुत में 'एक लक्ष्य पर स्थिर न रहनेवाला'।

आचार्य हेमचन्द्र अपनी देशीनाममाला में लिखते हैं कि "जारेसु छिन्न—छिन्नाला"—(वर्ग तृतीय श्लो० २७) उक्त उल्लेख से 'छिन्नाल' शब्द का 'जार'—'व्यभिचारी' अर्थ प्रतीत है। प्रस्तुत 'छिनाला' वा गुजराती के 'छिनाळवा' शब्द का मूल 'छिन्नाल' शब्द में है। 'छिन्नाल' शब्द यद्यपि देश्य है तो भी विशेष विचार करने से उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है। 'छिन्नाल' शब्द में 'छिन्न' और 'काल' ये दो पद

माऌ्म होते हैं। जो पुरुष या स्त्री, काल का छेद करते हैं यानि समय-को लांघ जाते हैं अर्थात् समाजहितचिन्तक धर्मशास्त्रकारों ने स्मृतियों में जो समय स्त्रीसंग के लिए नियत किया है उस समय को न मान कर—उस समय को छेदनेवाले—उस समयका उल्लंघन करनेवाले और अपने स्वच्छन्द से यथेष्ट वर्तनेवाले हैं वे 'छिन्नकाल' कहे जा सकते हैं। छिन्नः कालः यैः ते छिन्नकालाः—जिन्होंने काल को छिन्न कर दिया है वे। 'छिन्नकाल' शब्द का ऐसा व्यापक भाव देखने से एक पत्नीवाला गृहस्थ भी यदि ऋतुकाल के अतिरिक्त स्त्री संग करता हो तो वह भी 'छिन्नकाल' के उपनाम को पाता है और जो अतिभोगी है वह तो स्पष्टतया 'छिन्नाल' ही है। जब 'छिन्नाल' शब्द प्रवृत्त हुआ होगा तब उसका उक्त व्यापक भाव होगा परंतु समय बीतने पर उसका उक्त भाव संकुचित हो गया है और वर्तमान में वह शब्द लोक प्रतीत 'व्यभिचारी' के भाव को सूचित करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो 'छिन्नाल' शब्द का उक्त व्यापक भाव ही ठीक प्रतीत होता है: सं. छिन्नकाल प्रा० छिन्नआल—छिनाल। प्रस्तुत व्युत्पत्ति संगत होने से 'छिनाल' शब्द व्युत्पन्न दीखता है तो भी साहित्य में उसका प्रचार विरल होने से उसको देश्य में गिना गया लगता है अथवा 'छिन्नकाल'के समान 'छिन्नाचार' शब्द से भी 'छिन्नाल' पद

आ सकता है। छिन्नः—आचारः येन सः छिन्नाचारः प्रा—छिन्ना-यारो—छिन्नायालो—छिन्नालो—छिनालो। जिस पुरुष वा स्त्रीने शास्त्र-विहित आचार को छेद दिया हो—तोड दिया हो वे 'छिन्नाचार' कहे जाते हैं। प्राकृत भाषाओ में 'र' और 'ल' का परस्पर परिवर्तन सुप्रतीत है। अथवा 'छिन्नाल'का पर्याय 'छिन्न' को देखने से दूसरी भी कल्पना होती है: पुराने समय में जो पुरुष जिन इंद्रिय से अपराध करता था उसकी वह इंद्रिय काट दी जाती थी—छेदी जाती थी। असत्य बोलने वालों की जीभ छेदी जाती थी, हाथ से चौर्य करने वालों का हाथ छेदा जाता था इसी प्रकार व्यभिचारी पुरुष की जननेंद्रिय छेदी जाती थी इस से उसकी प्रसिद्धि 'छिन्न' शब्द से होती थी। इस कारण 'छिन्न' शब्द 'व्यभिचारी' अर्थ में बताया गया है। वही 'छिन्न' को 'ल' प्रत्यय लगाने से और उसके अन्त्यस्वर को दीर्घ करने से भी 'छिन्नाल' शब्द बना हो। 'छिन्न' से 'छिन्नाल' बनाने की कल्पना में पूर्वोक्त व्यापक भाव आ सके गा वा न आ सकेगा यह अनिश्चित है। कुछ भी हो उक्त कल्पनात्रय से 'छिन्नाल' शब्द व्युत्पन्न दीख पडता है। दर्शित व्युत्पत्ति घटमान है वा वा अघटमान तत्र व्युत्पत्तिविदां प्रामाण्यम्।

६५. झख—मच्छ—मच्छी।

सं० 'झष' के 'ष' का 'ख' बोलने से झख।

भजन १२ वां

६६. **बूडे**—बूड जाय ।

सं० बुडति—प्रा० बुड्डइ । उस पर से 'बूडे' पद आया है । 'बोळवुं' (गूज०) क्रियापद का मूल भी 'बुड्ड' में है । 'बुड' धातु छट्ठा गण का है । संभव है कि 'बुड' धातु देश्य हो इस तरह का उसका विलक्षण उच्चारण है ।

६७. **बामण**—ब्राह्मण ।

सं० ब्राह्मण—प्रा० बम्हण । 'बम्हण' शब्द से बामण । 'ब्राह्मण' में मूल धातु 'बृह' है । 'बृह्' का अर्थ बृहत्ता है ।

६८. **काठ**—काष्ठ—लकड़ा ।

सं० काष्ठ—प्रा—कट्ठ—काठ ।

'काठीं' 'काठुं' वगेरे गुजराती शब्दों के मूल में 'काष्ठ' शब्द है ।

६९. **होठ**—ओष्ठ ।

सं० ओष्ठ—प्रा० ओट्ठ । 'ओट्ठ' के 'ओ' को 'ह' सदृश बोलने से 'होठ' पद आया है । 'होठ' में सर्वथा स्पष्ट 'ह' नहि है परन्तु गुज० 'ओळवुं' का 'होळवुं' उच्चारण के समान 'होठ' के 'ह' का उच्चारण है ।

७०. **हलावे**—हिलाते ।

सं० 'चल' का प्रेरक 'चाल' । 'चाल' का प्राकृत चलाव—चलावइ—चलावे—हलावे । 'हलाव' में मूल 'च' 'ह' के समान बोला जाता है ।

७१. **बहेरा**—बधिर—कानों से न सुन सके ऐसा ।

सं० बधिर—प्रा० बहिर । 'बहिर' से 'वहेरा' वा 'बेरा' ।

७२. **नेउर**—पेर का आभूषण—झांझर

सं० नुपूर—प्रा० नेऊर—नेउर ।

७३. **वाजे**—बजता है ।

सं० वाद्यते—प्रा० वज्जए—वाजे । 'वागे' (गूज०)

'बजना' और (गूज०) 'वागवु'' ए दोनों क्रियापदों का मूल प्रा० 'वज्ज' में है और वह 'वज्ज' संस्कृत 'वाद्यते' के 'वाद्य' अंश का ही रूपांतर है ।

७४. **गहेरा**—गभीर

सं० गभीर—प्रा० गहीर—गहेरा—घेरा ।

७५. **पहरे**—वस्त्र पहिरे

सं० परिद्धाति प्रा० परिहाइ—पहिराइ—पहिरइ—पहिरे—पहेरे । 'परिहाइ' में 'र' और 'ह' का व्यत्यय होने पर 'पहिराइ' पद आता है ।

७६ **छोत—अछोत**

प्रस्तुत में 'छोत' शब्द स्पृश्य जातिका वाचक है और 'अछोत' शब्द अस्पृश्य जाति का। भजनकार ज्ञानानंद कहते हैं कि कितने ही लोग पानी पीना इत्यादि क्रिया में 'छुवा अछुवा' के विचार को प्रधान रखते हैं अर्थात् अन्य सदाचार हो या न

हो परन्तु छुवा अछुवा का कल्पित आचार तो रहना ही चाहिए ऐसी जड मान्यता को रखने वाले कभी भी परमात्मा को नहि पा सकते वा नहि पहिचान सकते इतना ही नहि किंतु मानव, ऐसी कितनी ही विवेकहीन क्रियाएं वा रूढिएं पकड रखें तो भी वह सब निरा पाखंड है ऐसा प्रस्तुत भजनकारका स्पष्ट कथन है।

'छोत' शब्द का मूल 'छुप' धातु में है। 'छुप' धातु से भूत कृदंत छुप्त प्रा० 'छुत्त' और प्रा० 'छुत्त' से 'छोत' वा छूत। न छोत—'अछोत'। 'छुना' और छूवुं (गुज०) क्रियापद का मूल भी 'छुप' धातु में है। "छुपंत् स्पर्शे"—(धातुपारायण तुदादिगण अंक ६१) धातु यद्यपि 'छुप' है तो भी वह मूल संस्कृत है वा देश्य यह कैसे कहा जाय? प्रसिद्ध 'स्पृश' धातु के साथ उसका कोइ प्रकार का संबंध है या नहि? यह भी विचारणीय है।

७७. पाखंड—जूठा—धतिंग

मूल 'पाषण्ड'। 'ष' का 'ख' उच्चारण होने से पाखंड। अशोक की धर्मलिपिओं में 'पासंड' शब्द का प्रयोग आता है इससे प्रतीत होता है कि 'पासंड' कितना पुराना है। धर्मलिपियों में प्रयुक्त 'पासंड' शब्द का 'जूठ' अर्थ नहि किंतु मत—संप्रदाय वा कोई भी धर्मपंथ अर्थ है। जैनशास्त्र में भी 'पासंड' शब्द का प्रयोग आता है, वहां उसका अर्थ है 'अमुक संप्रदाय का

मुनि' "पव्वइए अणगारे पासंडे चरग—तावसे भिक्खू । पारिवायए य समणे" प्रस्तुत गाथा में भिन्न भिन्न संप्रदाय के साधुओं के साधारण नाम बताये हैं ।

'पासंड' वा 'पाखंड' शब्द मूलतः 'झूठ' अर्थ में नहीं है किंतु समय बीतने पर वह शब्द शनैः शनैः 'झूठ' अर्थ में आ गया । कारण—वे वे संप्रदायों में जैसे जैसे 'झूठ—धतिंग' बढता गया वैसे वैसे संप्रदाय सामान्यवाची भी 'पासंड' वा 'पाखंड' शब्द केवल 'झूठ-धतिंग' अर्थ में रूढ होता गया । अमरकोशकार लिखता है कि—"पाखण्डाः सर्वलिङ्गिनः"— (ब्रह्मवर्ग द्वितीयकांड श्लो० ३४५) अर्थात् "सब मत वालों के लिए 'पाखंड' शब्द का व्यवहार है ।" अमरकोशकार के समय में 'पाखंड' शब्द 'झूठ' अर्थ में प्रचलित था ही नहि वह कैसे कहा जाय? परंतु कोशकार स्वयं बौद्ध होने से उस के ध्यान में अशोक की धर्मलिपि में वा बौद्धपिटको में प्रयुक्त 'पाखंड' शब्द का मूल भाव रहा होगा ततः उसने 'पाखंड' शब्द का मूल भाव ही अपने कोश में बताया होना चाहिए । अमरकोश के टीकाकार ने 'पाखंड' शब्द का, मूळ कोशकार से सर्वथा विपरीत अर्थ बताया है । टीकाकार महेश्वर कहता है कि— "पाखण्डः बौद्ध-क्षपणकादिषु दुःशास्त्रवर्तिषु" अर्थात् "दुःशास्त्रो में मानने वाले बौद्ध और जैन इत्यादि के लिए 'पाखण्ड' शब्द

है" इतना लिख कर ही टीकाकार नहि रुकते किंतु वे 'पाखंड' की निरुक्ति भी इस प्रकार बताते हैं:

"पालनाच्च त्रयी धर्मः 'पा' शब्देन निगद्यते।
तं खण्डयन्ति ते तस्मात् पाखण्डास्तेन हेतुना"॥

अर्थात् 'पा' माने तीनों वेदो में कथित धर्म का पालन और 'खंड' माने वेदोक्त धर्म का खंडन—जो लोग वेदोक्त धर्म का खंडन करते है वे 'पाखण्ड' शब्द से बोधित होते है (पा+खंड—पाखंड) 'पाखंड' की प्रस्तुत निरुक्ति कैसी विलक्षण है? अस्तु। टीकाकार ने तो सांप्रदायिक आवेश में आकर 'पाखंड' शब्द का मूल अर्थ को विकृत कर ही दिया। इसी प्रकार 'पाखंड' का अर्थ विकृत होते होते आज तो उसका अर्थ 'निरा असत्य' 'धतिंग' 'ढोंग' हो गया। दूसरे कारणों के साथ धार्मिक दुराग्रह भी शब्द के अर्थ को बदलने के लिए किस प्रकार साधक होता है इस का प्रस्तुत 'पाखंड' शब्द अच्छा नमूना है। धर्मलिपि के आधार से 'पासंड' के मूल अर्थ का पता लगता है किंतु उसकी मूल व्युत्पत्ति का पता नहि लगता। क्या 'पाप+खंड' शब्द से 'पाखंड' शब्द बना होगा वा और कोई व्युत्पत्ति होगी यह अवश्य शोधनीय है। पापं खण्डयति इति पाखण्डः अर्थात् पाप का नाश करने वाला हो उसका नाम पाखंड। पापखण्ड—पावखण्ड—पायखंड—पाखंड? सब संप्रदाय वाले पाप को नाश

करने का दावा रखते हैं इस बात को लक्ष्यगत कर उक्त व्युत्पत्ति की कल्पना ऊठी है।

भजन १३ वां

७८. **संघयण**—शरीर का बांधा।

सं० संहनन—प्रा० संघणण—संघयण (जैनपारिभाषिक) "गात्रं वपुः संहननं शरीरम्"—इत्यादि अमरकोश (द्वितीयकांड मनुष्य वर्ग श्लो० ७०) के अनुसार संस्कृत साहित्य में 'संहनन' शव्द शरीर का वाचक है परंतु जैनसाहित्य में 'संहनन' शव्द प्रधानता से शरीर का वाचक न होकर शरीर के बंधारण का वाचक हो गया है। 'संघणण' में दो 'ण' साथ आने से एक 'ण' हट गया है इसका कारण वाग्व्यापार है।

७९. **संठाण**—शरीर का आकार

सं० संस्थान—प्रा० संठाण। संस्कृत साहित्य में भी 'संस्थान' शव्द शरीर की रचना अर्थ में प्रचलित हैः "संनिवेशे च संस्थानम्" —(अमरकोश नानार्थ वर्ग श्लो० १२३) "संस्थानं संनिवेशः स्यात्"—(हैमअभिधान चिन्तामणि कांड ६ श्लो० १५२)।

भजन १४ वां

८०. **थारे**—तेरे

थारे (मारवाडी) तारे (गुजराती) तेरे (हिंदी) ये सव समान शव्द है और पर्याय रूप है। मूल शव्द 'त्वत्' है।

८१. ठगनी—शठ—धूर्त

ठगनी और ठगणी (गुज०) दोनों समान शब्द हैं। उसके मूल में 'स्थग' (स्थगे संवरणे—धातुपारायण भ्वादिगण अंक १०३०) धातु है। 'स्थग' धातु का अर्थ 'संवरण' है। 'संवरण' का अर्थ आच्छादन—गोपन—ढांकना है। ठगने की क्रिया में 'ढांकना' क्रिया मुख्य रहती है इसी कारण से 'स्थग' धातु से 'ठग', 'ठगनी', 'ठगणी' 'ठगाई' शब्द लाने में असंगतता नहि। देशीनाममाला की टीका में आचार्य हेमचंद्र ने 'धूर्त' अर्थ में 'ठक' शब्द का प्रयोग किया है: "कालओ धूर्तः ठकः इत्यर्थः"—(वर्ग द्वितीय गा० २८)।

स्थगति इति स्थगः—प्रा० ठग।

'रमणी', 'कमनी' इत्यादि प्रयोगों के अनुसार स्थगनी—प्रा० ठगनी—ठगणी। हिंदी 'ठगना,' गूजराती 'ठगवुं' क्रियापद का मूल भी 'स्थग्' धातु ही है। 'स्थगन' शब्द 'तिरोधान' अर्थ में सुप्रतीत है: "छदन—व्यवधा—अन्तर्धा—पिधान—स्थगनानि च—"(हैमअभिधानचिंतामणि कांड ६, श्लो० ११३.)

८२. हिरिदय—हृदय

सं० हृदय। 'ह्' और 'ऋ' के बीच में अन्तःस्वरवृद्धि के नियम से 'इ' आ जाने से और 'ऋ' का 'रिद्धि' के समान 'रि' हो जाने से 'हृदय' शब्द ही सीधा 'हिरिदय' के रूप में आ जाता है।

८३. **पैसे**—प्रवेश करे।

सं० प्रविश्—प्रविशति—प्रा० प्रविसइ—पइसइ—पेसेइ—पेसे वा पैसे।

८४. **लाड**—आनन्द—मौज।

सं० 'लड' धातु 'विलास' के अर्थ में प्रसिद्ध है। "लड विलासे" (धातु पारायण भ्वादिगण अंक—२५४) 'ललना' और 'लालन' शब्द भी इसी धातु से आये हैं। 'पच्' धातु से 'पाक' शब्द की तरह 'लड' धातु से 'लाड' शब्द आया है।

८५. **गोतो**—गोता लगाना—छिपजाना।

सं० गुप्त प्रा०—गुत्त—गोत्त—गोतो अथवा 'गूढ' शब्द से 'गोता' शब्द आया हो। शब्द साम्य और अर्थसाम्य की दृष्टि से तो 'गूढ' की अपेक्षा 'गुप्त' और 'गोता' के बीच साक्षात् संबंध मालूम होता है।

८६. **इहांसेती**—इधरसे।

'इहांसेती' शब्दमें 'सेती' वचन पंचमी विभक्ति का सूचक है एसा मालूम होता है। प्राकृतमें पञ्चमी विभक्ति का सूचक 'सुंतो' प्रत्यय है। क्या 'सुंतो' और 'सेती'में कोई प्रकार का संबंध घट सकता है?

भजन १६ वां

दश दरवाजे।

शरीर के अंदर से मल नीकलने के दरवाजे दश है। दो आंख, दो कान, दो नाक, दो कक्षा, गुदा और जननेंद्रिय; ए दश स्थानों से निरंतर मल नीकलता रहता है। 'नाक' के दो छिद्र होने से 'दो नाक' कहा गया है।

८८. बुंद

'बिन्दु शब्द में स्वर का व्यत्यय होने पर अन्त्य 'इ' का 'अ' होने से 'बुंद' शब्द होता है:

बिन्दु–बुंदि (व्यत्यय) से बुंद। गुजराती भाषामें 'बिन्दु' के अर्थ में 'मींडु' शब्द आता है। यह 'मींडु' भी बिन्दु' का ही परिणाम है। 'बिन्दु' में 'न' कार के प्रभाव से स्थान साम्य से 'व' का अनुनासिक 'म' हो गया है। और 'द', 'ड' के रूप में आया है।

८९. षट् रस–छ रस।

मधुर, अम्ल (खट्टा) लवण (खारा) कटु (कडुवा) तिक्त (तीता) और तूरा ये छ रस हे।

९०. भूखो–जीसकी भूख शांत न हुई हो ऐसा।

सं. बुभुक्षितः प्रा. बुहुक्खिअो। 'बुहुक्खिअ'में 'व' और 'ह' एक हो जाने से 'भ' हो गया है अतः 'बुहुक्खिअ' से 'भुक्खिअ' शब्द बनता है। 'भुक्खिअ' से 'भूखो' शब्द सहज में आता है।

गूजराती में इसी अर्थ में 'भुख्या' शब्द प्रचलित है। उसका मूल भी 'भुक्खिअ' में है। 'भूख' शब्द का मूल 'बुभुक्षा' है: बुभुक्षा—बुहुक्खा—भुक्खा—भूख। 'भुक्खा' शब्द को आचार्य हेमचंद्रने देश्य माना है: "छुहाए भुक्खा"—(देशीनाममाला वर्ग ६, गाथा १०६) पूर्वोक्त प्रकार से 'भुक्खा' शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है फिर उसको देश्य गिनने का कारण नहि जान पडता है। 'बुभुक्षित' और 'बुभुक्षा इत्यादि में मूल धातु 'भुज' है यह ख्याल में रहे।

९१. **जालम**—लुच्चा।

सं० 'जाल्म' में 'ल' और 'म' के बीच 'अ' आ जाने से जालम' शब्द आ सकता है। संस्कृत कोशोंमें 'जाल्म' और नीच' दोनों को समानार्थक बताया है: "नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः। निहीनः अपसदः जाल्मः"—(अमरकोश शूद्र वर्ग कांड २, श्लो० १६) हेमचंद्र ने तो अपने अभिधान चिन्तामणि कोश में प्रस्तुत शब्द को मूर्ख का पर्याय कहा है (कांड ३, श्लो० १६) यह शब्द मूल से संस्कृत है वा अन्य भाषा का है? यह विचारणीय है।

९२. **तालम**—धूर्त—ठग।

'तालम' की व्युत्पत्ति ज्ञात नहि वा यह शब्द परभाषा का प्रतीत होता है। 'जालम' और 'तालम' में अर्थसाम्य है।

भजन १७ वां

पांचो—पांच इंद्रियां

दोय—राग और द्वेष

९३. **चार**—

सं० चत्वारः प्रा० चत्तारो—चत्तार—चतार—चयार—च्यार—चार।

चार—क्रोध मान माया और लोभ अथवा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय ये चार घाती कर्म। देखो—'घातिकरम'

९४. **काटके**—काट कर—छेद कर। सं०—कृत्—कर्त—प्रा० कट्ट। प्रस्तुत 'कट्ट' से 'काटना' क्रियापद आया है 'कांतना' क्रियापद भी 'कृत्'से ही नीकला है: कृत्—कृन्त—कंत—कांत "कृतैत् छेदने"—(धातुपारायण तुदादिगण अंक ११)

९५. **सोल**

सं० षोडश प्रा० सोलस—सोलह—सोल वा सोळ।

'षोडश' में 'षट्+दश' ऐसे दो पद है। 'षट्+दश' का अर्थ—जिसमें छह अधिक है ऐसे दश अर्थात्—सोलह।

सोल—कषायमोह के सोलह प्रकार—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन के रूप से क्रोध, मान, माया लोभ कषायों के प्रत्येक के चार चार प्रकार होकर सोलह भेद होते हैं।

९६. **कहावे**–कहा जाते हैं।

कथ्यते–कथाप्यते–कहावीअइ–कहावीइ–कहावे । दशमें गणमें कर्तासूचक 'अय' विकरणकी तरह 'आपय' प्रत्यय भी होता है उसका प्रा० 'आव' प्रत्यय प्रसिद्ध है।

भजन १८ वां

९७. **ऊरध**–ऊंचा

सं० ऊर्ध्व। 'र' और 'ध्व' की बीच में 'अ' आने से 'ऊरध्व' और उच्चारण की क्लिष्टता को मिटाने के लिए अंत्य 'ध्व' का 'व' लुप्त हो जाने से ऊरध।

९८. **पहिचाने**–पहिचान करे–ओळख करे।

प्रत्यभिजानाति–पच्चहिजाणइ—पच्चहिजानइ—पहिचाने। उच्चारण की त्वरा से 'पच्चहिजा' का 'पहिचा' हो गया मालूम होता है। गूजराती 'पिछाणवुं' और 'पिछाण' शब्द का मूल भी 'प्रत्यभिजाना' में है: प्रत्यभिजाना–पच्चहिजाण–पहिचाण–पिछाण और पिछाणवुं।

भजन १९ वां

९९. **बरम**–ब्रह्मज्ञान–व्यापक भाव का अनुभव

सं० ब्रह्म–बरम्ह–बरम। 'ब्रह्म' के 'ब्र' में, बीच में 'अ' आया और 'ह्म' का 'म्ह' होकर उच्चारण सौकर्य के लिए 'बरम्ह–'बरम' हो गया है।

१००. धरम–शुकल

धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो ध्यान जैन प्रवचन में प्रसिद्ध है।

१०१. कनदोरो–कटीका दोरा–धागा–कटीका भूषण।

कटीदवर–कडीदवर–कडीदोर–कनदोर–कंदोर।

'कटीदवर' में 'कटी' शब्द संस्कृत है और 'दवर' शब्द 'धागे' के अर्थ में देश्य प्राकृत है। "दवरो तन्तुः"–(देशीनाममाला वर्ग ५ गा० ३५) 'दवर' शब्द का मूल समज में नहि आता। कटयाः दवरो कटीदवरो–कटीका डोरा। अमरकोश का टीकाकार महेश्वर लिखता है कि "शृङ्खलम्' इति एकं कटिभूषणस्य 'कडदोरा' इति ख्यातस्य"–(अमरकोश टीका पृ० १५८ श्लो० १०७) अर्थात् "पुरुष के कटिभूषण के लिए 'शृङ्खल' (गू० सांकळी) शब्द है जिसको भाषा में 'कडदोरा' कहते हैं" महेश्वर के उपर्युक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि (गुज०) 'कंदोरो' का मूल 'कडदोरो' शब्द है 'कनकदोरो' नहि। प्रस्तुत 'कडदोरा', पुरुष की कटीका आभूषण है, स्त्री की कटीका नहि यह ख्याल में रहे। भजनकार ने 'कनदोरो' के स्थान में 'शम' की कल्पना की है अर्थात् योगियों का कंदोरा 'शम' है।

१०२ कोपीन–लंगोट

सं० कौपीन–प्रा० कोपीन।

'कौपीन' की व्युत्पत्ति वैयाकरणोंने इस प्रकार बताई है: 'कूपम् अर्हति' इति 'कौपीनम्' अर्थात् 'कूवा में डालने योग्य हो वह 'कौपीन'। परन्तु यह व्युत्पत्ति कल्पित प्रतीत होती है। 'कौपीन' की ठीक व्युत्पत्ति गवेषणीय है। संभव है कि 'कौपीन' का मूल 'गुप्' धातु में हो। "गुपि" गोपन–कुत्सनयोः"— (धातुपारायण भ्वादि, अंक ७६३) 'गुप' धातु का अर्थ है 'गोपन' और 'कौपीन' में भी 'गोपन' का भाव स्पष्ट है। गोपन—गुप्त रखना—छिपा रखना। कदाच मूल शब्द 'गोपीन' हो और उसपर से 'कौपीन' ऐसा संस्कार किया हो। जो भी कुछ हो परन्तु वैयाकरणों की व्युत्पत्ति कल्पित लगती है।

१०३ **निरजरा**—कर्मों का जर जाना—कर्मों का नाश होजाना।

सं० निर्जरा (जैन पारिभाषिक)

१०४ **चाखव**—चखना

सं० "जक्षक् भक्ष–हसनयोः"-(धातुपारायण अदादि गण अंक–३३)।

जक्ष्—प्रा० जक्ख। 'जक्ख' परसे 'चक्ख'। 'चक्ख' से 'चखना'। 'चाखवुं' (गुज०) अथवा "चषी भक्षणे"— (धातु पारायण भ्वादि गण अंक–९२८)।

'चष' के 'ष' का 'ख' उच्चारण होने से 'चख' और 'चख'

से 'चखना' 'चाखवुं' पद आ सकते हैं। वाग्व्यापार की दृष्टि से 'चष' की अपेक्षा 'जक्ष' से 'चखना' और 'चाखवुं' को लाना ठीक प्रतीत होता है।

भजन २० वां

१०५ **वालम**—अधिक प्रिय—वल्लभतम—प्रियतम।

सं० वल्लभतम—प्रा० वल्लहतम-वालहअम—वालम। 'प्रियतम' उपर से 'प्रीतम' आता है इसी प्रकार 'वल्लभतम' से 'वालम' रूप आने में कोई असंगति नहि। 'प्रीतम' और 'वालम' में अर्थ की एकता है। सद्गत रा० रा० नरसिंहराव भाई 'वालम' को बनाने के लिए अन्य प्रकार बताते हैं: " वल्लभः—वल्लहु—व्हल्लउ-व्हालउ—व्हालव—व्हालम—वालम।" (गुजराती भाषा अने साहित्य पृ० २३१)।

भजन २२ वां

१०६. **महिल**—बडा मकान।

'महालय' और 'महिल' शब्द में अर्थसाम्य तो है परन्तु शब्दसाम्य भी है।

१०७. **गोखें**—जरोखे में।

सं० गवाक्ष प्रा० गवक्ख—गउक्ख—गोख।

'गोंखलो' (गुज०) शब्द भी 'गोंख' को स्वार्थिक 'ल' लगाने से आता है।

'गवाक्ष' का शव्दार्थ 'गाय की आंख' होता है। 'वातायन' की रचना गाय की आंख जैसी होती होगी इससे 'वातायन' भी 'गवाक्ष' के नाम से प्रतीत हुआ हो ऐसा माल्म होता है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि—

"वातायनो गवाक्षश्च जालके"—(हैमअभिधानचिंतामणि कांड ४ श्लो० ७८) काठीयावाड में तो भींत में जहां दीपक रखते हैं उस जगह का भी नाम 'गोंखलो' है। वातायन के आकार साम्य से ऐसी रूढि चल पडी होगी।

१०६. **डेरा**—वास—निवास।

सं० 'द्वार' से प्रा० 'देर' शब्द आता है। प्रस्तुत 'डेरा' और प्रा० 'देर' में साम्य है और अर्थ में भी विशेष भेद नहीं दीखता। जहां निवास होता है वहां 'द्वार' भी होना चाहिए इस कारण से 'डेरा' शब्द 'निवास' अर्थ को प्रतीत करने लगा हो !!! वा 'डेरा' शव्द संस्कृत प्राकृतमूलक न होकर अन्य भाषा का हो।

भजन २४ वां

पांच जात–१ एक इंद्रियवाला जीव—पेड—पत्ते इत्यादि। २ दो इन्द्रियवाला जीव—शंख—कीडे इत्यादि। ३ तीन इन्द्रिय वाला जीव चींटी इत्यादि। ४ चार इन्द्रियवाला जीव—भमरा इत्यादि। ५ पांच इंद्रियवाला जीव—मानव—पशु इत्यादि। आत्मा का स्वरूप उक्त पांच जात का नहि।

१०७. **छांह**–छाया।

सं० छाया–प्रा० छाही–छांह। छांयो (गुज०) 'छाया' में 'य' अर्धस्वर है उसके स्थान में 'ह' का उच्चारण हुआ है। प्रस्तुत 'ह' महाप्राण नहि है किन्तु 'य' के समान उच्चारण वाला है।

शुद्ध आत्मा में कोई कुल की छाया भी नहीं है। ऐसा भाव भजनकार का है।

प्रतिछाया–पडिछाया–पडछायो (गुज०)। प्रतिछाया–पडिछाही–पडछांई, परछांइ, पडछांह, परछांह, (गुज० पडछांयो)

भजन २५ वां

१०८. **डूंगर**–डुंगरा।

"डुंगरो सेले"–(देशीनाममाला वर्ग ४ गाथा ११) आचार्य हेमचन्द्र 'डुंगर' शब्द को 'शैल' अर्थ में बताते हैं और उसको 'देश्य' कहते हैं। 'डुंगर' पर जाना कष्टमय होता है। इससे इसकी व्युत्पत्ति 'दुर्गतर' शब्द से हो सकती है। दुर्गतर–दुग्गअर–दुग्गार–डुंगर। 'दुर्गतर' और 'डुंगर' में अर्थ-साम्य के साथ शब्दसाम्य भी है और वाग्व्यापार की प्रक्रिया से भी 'दुर्गतर' से 'डुंगर' बनना सयुक्तिक मालूम होता है।

१०९. **नातरां**–पुनर्विवाह–विजातीय संबंध।

'नातरा' की व्युत्पत्ति निश्चित रीत से ज्ञात नहीं है परन्तु

'नातरां' शब्द में 'ज्ञाति+पर' ये दो शब्दों का सम्भव हो सकता है। ज्ञातेः परम् ज्ञातिपरम् अर्थात् ज्ञाति से भिन्न। ज्ञातिपर—नातियर नातर—नातरुं, नातरां। अथवा प्रशस्तो ज्ञातिः ज्ञातिरूपम्—नातिरूवं—नातिरूअं—नातिरूउं—नातरूं। कितनेक प्रयोगों में प्रशंसा वाचक शब्द निन्दा को व्यक्त करते हैं इस तरह 'ज्ञातिरूप' का प्रशंसा सूचक 'रूप' प्रत्यय निन्दा को व्यक्त करता है ऐसा समजना चाहिए। जैसे 'महत्तर' शब्द का वाच्य, हरिजन है परन्तु शब्द प्रशस्त है इसी प्रकार 'ज्ञातिरूप' में समजना संगत लगता है। अथवा सं० ज्ञाति+इतर—प्रा० नाति+इतर—नातिअर—नातर—नातरुं। इस प्रकार भी कल्पना हो सकती है।

११०. **कवडी**—कौडी।

सं० कपर्दिका—प्रा०—कवड्डिआ— { कवडिआ—कवडी / कउडिआ—कौडी }

भजन २६ वां

१११. **बरमा**—ब्रह्मा।

भजन २७ वां

समिति—पांच समितिः

१. ईर्या समिति—दूसरे को लेश भी तकलीफ न हो इस प्रकार गति करना—चलना।

२. भाषा समिति—दूसरे को लेश भी तकलीफ न हो इस प्रकार हितमित सत्य बोलना।

३. एषणा समिति—दूसरे को लेश भी तकलीफ न हो इस प्रकार अपने अन्नवस्त्र की शोध करना।

४. आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति—दूसरे को लेश भी तकलीफ न हो इस प्रकार अपने जीवननिर्वाह के साधनों को रखना।

५. पारिष्ठापनिका समिति—दूसरे को लेश भी तकलीफ न हो इस प्रकार अपने मलमूत्रादि को छोडना।

गुपति—तीन गुप्ति—

मनोगुप्ति—मन का निग्रह करना।

वचोगुप्ति—वचन का निग्रह करना।

कायगुप्ति—शरीर का निग्रह करना।

अर्थात् मन वचन और शरीर के दुष्ट व्यापारों को रोकना।

भजन २८ वां

११२. **कायर**—कायर—डरपोक

सं० कातर—प्रा० कायर—कायर।

११३. **संसृति**—संसार—फिरना।

भजन २९ वां

११४. आगममां

भजन में लिखी हुई हकीकत से समान आशययुक्त हकीकत भगवती सूत्र के आठवें शतक के दशम उद्देशक में मिलती है। (पृ० ११८ भगवती तृतीय भाग, श्री रायचन्द्र-जिनागम संग्रह का मुद्रण)।

भजन ३० वां

११५. **ग्यान**—ज्ञान

'ज्ञान' का विकृत उच्चारण 'ग्यान'।

११६. **चार चोर**—

क्रोध मान माया लोभ ये चार चोर।

भजन ३१ वां

११७. **सलूने**—कांतिवाले—लावण्यवाले।

'लावण्य' नाम कांति का है। सं० लावण्य—प्रा० लावण्ण—लाउण्ण—लोण्ण—लोन। जो लावण्यसहित है वह सलावण्य। 'सलूने' में मूल शब्द 'सलावण्य' है। 'सलून' प्रकृति है और 'ए' प्रथमा विभक्ति का प्रत्यय है। हिंदी भाषा में प्रथमा विभक्ति में 'ए' प्रत्यय का व्यवहार नहि है। गूजराती में प्रथमा विभक्ति में 'घोडो' 'ससलो' इत्यादि प्रयोगो में 'ओ' प्रत्यय का उपयोग है और मराठी में 'ठाणें' 'पूणें' 'आठवले' इत्यादि प्रयोगो में 'ए' प्रत्यय का प्रयोग है। प्राकृतो में

मागधीप्राकृत में प्रथमा विभक्ति में 'समणे' 'महावीरे' इत्यादि लक्ष्यो में 'ए' प्रत्यय का व्यवहार है। प्रस्तुत 'सलूने' में यही 'ए' प्रत्यय का संभव है।

११८. **ताल**–तेरा। गुजराती–तारा।

'र' का 'ल' और 'ल' का 'र' सर्वत्र बनता रहता है।

११९. **जाम**–प्रहर।

सं० याम–प्रा० जाम। आदि के 'य' के स्थान में प्रायः 'ज' का उच्चारण अद्यावधि प्रचलित है। जो (यः) जथा (यथा) जथारथ (यथार्थ) जमुना (यमुना) इत्यादि।

१२०. **जिउ**–जीव।

सं० जीवकः प्रा० जीवओ–जीवउ–जीवु–जीउ–जिउ।

१२१. **मगन**–आसक्त।

सं०–मग्न। 'अ' बीचमें आने से 'मगन'। मूलधातु 'मस्ज' है जिसका 'मज्जति' 'निमज्जति' रूप बनता है। "टुमस्जोंत् शुद्धौ" "शुद्धया स्नानं ब्रुडनं च लक्ष्यते"–(धातुपारायण तुदादिगण अंक–३८) यद्यपि 'मस्ज' धातु का अर्थ 'शुद्धि' है तथापि 'शुद्धि' शब्द 'स्नान' और 'बुडना' दोनों का लक्षक है यह हेमचंद्र का उक्त कथन ख्याल में रहे।

भजन ३२ वां

१२२. **बाउरे**–मूरख–बायडा।

सं० वातलकः प्रा० वायलअे–वावलअे–वाउलअे–वाउले–वाउरे–बाउरे। बावरो (गुज०) 'ए' प्रत्यय है और 'वाउर' प्रकृति है यह ख्याल में रहे। 'ए' प्रत्यय की समज के लिए 'सलूने' का टिप्पण देखो।

१२३. **अकुलाय**–आकुल होना। गुज०–अकळाय।

स० 'आकुल' शब्द से 'आकुलयति' क्रियापद बनता है उसका प्रा० आकुलेइ। प्रस्तुत 'अकुलाय' में प्रकृतिरूप 'आकुलेइ' है।

१२४. **सेज**–शय्या–बिछाना

स०–शय्या–प्रा० सेज्जा–सेज।

१२५. **अघाय**–अतृप्त।

सं० घ्रात प्रा० घाय–न घाय अघाय। यद्यपि 'घ्रात' शब्द का अर्थ 'सुंघनेवाला' है। परंतु प्रस्तुत में 'सुंघना' इतर सब इंद्रियों के विषयका उपलक्षण है अर्थात् उस उपलक्षण को ध्यानमें लेनेसे 'घाय' माने सर्व इंद्रिय के विषयों को प्राप्त और 'अघाय' माने जिसको एक भी इंद्रिय का विषय नहि मिला हो वैसा अर्थात् अतृप्त।

भजन ३३ वां

१२६. **छेह**–अंत–छेद

सं० छेद प्रा० छेओ—छेहो—छेह। 'छेह' का 'ह' स्वर के बदले में आया है इससे महाप्राण नहि है यह ख्यालमें रहे। देखो 'छांह' का टिप्पण। "छेओ अंतम्मि दिअरे अ"—(देशीनाममाला वर्ग ३ गाथा ३८) हेमचंद्राचार्य 'अंत' अर्थमें 'छेअ' शब्द को देश्य कहते हैं। देश्य 'छेअ' शब्द का दूसरा अर्थ 'देवर' भी है। 'अंत' अर्थवाला 'छेअ' की प्रकृति 'छेद' मालूम होती है परंतु 'देवर' अर्थवाला 'छेअ' की प्रकृति अवगत नहि, कोई भाषाविद अवश्य प्रकाशित करे।

१२७ **उलटा**—विपर्यस्त—उलटा गुज० उलटुं।

"उल्लुट्टं मिच्छाए"—(देशीनाममाला वर्ग १ गाथा ८९) उल्लेखानुसार 'उल्लुट्ट' शब्द का अर्थ 'मिथ्या' है। सं० पर्यस्त प्रा० पल्लट्ट। प्रस्तुत 'उल्लुट्ट' की प्रकृति 'पल्लट्ट' में मालूम होती है। पल्लट्ट—वल्लट्ट—उल्लुट्ट। आदि में 'प' का 'व' होना औत्सर्गिक नहि है किंतु आपवादिक है। कदाच 'ल' के सान्निध्य से 'प' का 'व' हो गया हो।

हिंदी 'पलटना' 'बदलना'। गुज० 'पलटवुं' 'बदलवुं' पदों का भी मूल 'पल्लट्ट' शब्द में है।

विटाल, गु० वटाळ, वटलवुं शब्द की प्रकृति भी 'पल्लट्ट' हो सकता है। वटलवुं—धर्म वा जाति को छोडकर अन्य धर्म में वा अन्य जाति में जाना।

१२८. **प्यासे**–तृषित

सं० पिपासितः–प्रा० पिपासिए–पिआसिए–प्यासे अथवा सं० पिपासुकः–प्रा० पिवासुए–पियासुए–प्यासुए–प्यासे। प्यास' का शब्द मूल 'पिपासा' है : पिपासा–पिवासा–पियासा–पियास–प्यास।

१२९. **सयन**–स्वजन

सं० स्वजन–सयण–सयन

१३०. **रुख**–वृक्ष

सं० वृक्ष–प्रा० रुक्ख–रुख। 'वृक्ष' के आदि का 'व' वाग्व्यापारसे लुप्त हो गया है। 'वृक्ष' में मूल धातु 'वृश्च' है, 'वृश्च' माने 'काटना' "ओव्रस्चौत् छेदने"–(धातुपारायण तुदादिगण अंक २७)

भजन ३४वां

१३१. **पाहार**–पहाड–पर्वत

सं० पाषाण–प्रा० पाहाण 'पाहाण'से { पाहाड–पहाड
पाहार–पहार

भजन में 'जैने पाहार' छपा है परंतु 'जैसे पाहार' होना चाहिए। अर्थात् जैसे पाहाड खडे खडे तप करते हैं वैसे तप करना भी मन को वश किये बिना व्यर्थ है।

१३२. **तिरस**–तृषा–प्यास–इच्छा।

सं० तृषा—तिरसा—तिरस। प्राकृत में 'ऋ' के स्थान में 'इ' का भी उच्चारण होता है जैसे कृपा—किवा। गुज० तरस, तरश।

भजन ३५वां

१३३. **मढी**—मढो—संन्यासियों का निवास स्थान।

सं० मठिका प्रा० मढिआ—मढो। संस्कृत धातुओं में 'निवास' अर्थवाला 'मठ' धातु है। प्रस्तुत 'मढो' की वा संस्कृत 'मठ' की प्रकृति 'मठ' धातु है ऐसा मत वैयाकरणों का है। "मठ—आवसथ्य—आवसथाः स्युः छात्र—व्रतिवेश्मनि"—" मठन्ति निवसन्ति अत्र मठः"—(हैम अभिधानचिन्तामणि कांड ४ श्लो० ६० टीका) 'मठ' का अर्थ है 'ब्रह्मचारी छात्रों का वा मुनियों का निवास स्थान'। 'मठ' के मूल के लिए अन्य भी कल्पना हो सकती है: सं० 'मृष्ट' शब्द 'शुद्ध'—'साफ—सुथरा' अर्थ में है। 'मृष्ट' का प्रा० 'मट्ठ' और संभव है कि 'मट्ठ' पर से 'मठ' आया हो।

१३४. **तीसना**—तृष्णा—लोभ।

सं० तृष्णा—प्रा० तिसना—तीसना।

'ऋ' का 'इ' उच्चारण और 'ण' के बीच में 'स' कार का प्रवेश होने से 'तृष्णा' से 'तिसना' बन जाता है।

१३५. **पावडली**—पावडी।

सं० पादुका—प्रा० पाउआ। 'क' के स्थान में स्वार्थिक 'ड'

आने से और 'उ' का 'व' हो जाने से पावडी। 'पावडी' से भी फिर स्वार्थिक 'ल' आने से 'पावडली' बन जाता है।

१३६. **साचो**—संचय करो—एकठा करो।

'सं+चि' उपर से 'संचवुं' (गुज०) प्रस्तुत 'साचा' का मूल 'संचि' धातु में है। 'संचो' क्रिया का मूल भी 'संचि' है।

१३७. **गोर**—अभिमान।

सं० गौरव—प्रा० गोरव 'गोरव' से गोर।

१३८. **अंगिटी**—आग रखने की हण्डिया।

सं० 'अग्निष्ठ' प्रा० अग्गिट्ठ। 'अग्गिट्ठ' से 'अंगिठी' शब्द आया है।

जिसमें आग रक्खी जाती है उसका नाम 'अग्निष्ठ' है। 'अग्निष्ठ' शब्द की सिद्धि व्याकरण प्रतीत है। देखो हैम व्याकरण २—३—७० सूत्र। पाणनीय व्याकरण ८—३—९७ सूत्र।

भजन ३६ वां

१३९. **लाठी**—लाठी—लकडी

सं० यष्टि—लट्ठि—लाठी।

१४०. **पकरुं**—पकडुं—धर रक्खुं

सं० प्रकृष्ट प्रा० पकड्ढ। संभव है कि 'पकड्ढ' से 'पकडना' और गूजराती 'पकडवुं' पद नीकला हो। 'प्रकृष्ट' माने अतिशय खींचा हुआ—जोरसे धरा हुआ। 'पकडना' और 'प्रकृष्ट' के

अर्थ में तो साम्य पाया जाता है। 'प्रकृष्ट' में 'प्र+कृष्' धातु है यह ख्याल में रहे।

१४१. **भभूत**—भभूति—पवित्र भस्म।

विभूति—बिभूति—भिभूति— { भभूत। भभूति

पांचुं चोर—पांच इंद्रियों को 'चोर' रूप से बताया है।

'**हुंणी**' का अर्थ अनवगत है। पाठ शुद्ध है वा अशुद्ध?

१४२. **सींगी**—'सिंग' से बना हुआ वाद्य।

सं० शृङ्गिका प्रा० सिंगिआ-सिंगी—सींगी।

भजन ३७ वां

१४३. **तोलों**—तब तक

१४४. **वेर**—समय

सं० वेला— { वेर
वेळा (गुज०) }

१४५. **सिणगार**—सिंगार

'सिणगार' का मूल शब्द 'शृङ्गार' है। उसके 'ऋ' का 'इ' होने से सिंगार और 'सि' तथा 'ग' के बीचके नैष्ठिक 'न'

अनुनासिक में 'अ' का प्रक्षेप होने से 'सिणगार' और प्रक्षेप न करने से सिंगार। 'शृङ्गार' में जो 'ङ्' है वह मूलमें 'न्' था परंतु 'ग' के योग से 'न्', 'ङ्' में परिणत हुआ है इससे कहा गया है कि मौलिक 'न्' में अकार का प्रक्षेप हुआ है। 'शृङ्गार' शब्द का जो अर्थ प्रचलित है उसके साथ 'शृङ्गार' की व्युत्पत्ति का कोई संबंध है या नहि? यह विचारणीय है। 'शृङ्गार' की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार की मिलती है: आचार्य हेमचन्द्र 'शृङ्गार' शब्द को 'श्री' धातु से वा 'शृङ्ग' शब्द से नीकालते हैं। १ "श्रयति एनं जनः शृङ्गारः अर्थात् जिस का आश्रय सब लोक करे वह शृङ्गार। २ रसेषु शृङ्गम्—उत्कर्षम्—इयर्ति इति वा शृङ्गारः—रसो में जो उच्च स्थान को प्राप्त करे वह शृङ्गार। उक्त दोनों व्युत्पत्तियां 'शृङ्गार' के प्रसिद्ध अर्थ को लक्ष्यगत कर की गई है ऐसा प्रतीत होता है। शृङ्गार का आश्रय सब लोग करते हैं अथवा हास्यादि सब रसो में 'शृङ्गार' मुख्य रस है यह भी प्रसिद्ध बात है। काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लासगत २९ वीं कारिका की टीकामें भी 'शृङ्ग' शब्द से 'शृङ्गार' को बनाया है:

"शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः तदागमनहेतुकः।

पुरुषप्रमदाभूमिः शृङ्गार इति गीयते॥ इति शृङ्गारपद-निरुक्तिः" अर्थात् शृङ्ग माने कामदेव का ऊगम, जिस के

होने पर कामदेव को आना ही पडता है और जिसका स्थान पुरुष और प्रमदा है उसका नाम 'शृङ्गार'। उक्त व्युत्पत्तियां है तो अर्थानुकूल परंतु 'शृङ्गार' का संबध 'शृङ्ग' से क्यों लगाया गया? यह समज में नहि आता। हमारे ख्याल में 'शृङ्गार' के दो रूप है। आंतर और बाह्य: रसात्मक शृङ्गार आंतररूप है और रसात्मक शृङ्गार को व्यक्त करने के लिए शरीर पर लगी हुई आभूषणादि वेशभूषा का नाम बाह्य शृङ्गार है। आंतर और बाह्य शृङ्गार में परस्पर निमित्त नैमित्तिक संबंध है। कभी आंतर बाह्य का निमित्त होता है, कभी बाह्य भी आंतर का निमित्त होता है। 'शृङ्गार' का आविर्भाव आजकलका नहि, और रसों के आविर्भाव का इतिहास हो सकता है परन्तु 'शृङ्गार' के आविर्भाव का नहि; क्यों कि जब से सृष्टि हुई है तब से शृङ्गार की भी सृष्टि है—प्राणी मात्रमें उसकी व्याप्ति है। उसके रूपमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है परन्तु दुनिया में कभी 'शृङ्गार नहि था' ऐसा कोई कह सकेगा? हम सुनते हैं कि हमारे पूर्वज मानव वृक्षवासी थे; वे जब शृङ्गार करते थे तब हड्डिओं के आभूषण पहनते थे और माथे पर सिंग भी लगाते थे। आजकल भी मूल अरण्यवासियों के शृङ्गार के चित्रों को देखने से यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है। इन शृङ्गों—सिंगों के आभूषण के कारण से कदाच 'शृंगार' शब्द का संबंध 'शृंग' से लगाया गया हो।

कल्पना मात्र है। पीछे से तो 'शृङ्गार' का अर्थ ही 'सुरत' हो गया: "शृङ्गारो गजमण्डने ॥६०७॥ सुरते रसभेदे च"–(हैम अनेकार्थ संग्रह) अर्थात् शृंगार माने गज का आभूषण, सुरत–मैथुन और शृंगाररस।

दूसरी कल्पना–'शृङ्गार' का सम्बन्ध 'शृङ्ग' से नहि और 'श्री' धातु से भी नहि। संस्कृत 'संस्कार' शब्द है। उसका 'संखार' रूप तो पालीपिटको में और जैनआगमोमें सुप्रतीत है। 'संखार' से 'संगार' वा 'सिंगार' होना कठिन नहि माल्म होता। अर्थ का भी सम्बन्ध घट सकता है। परन्तु प्रस्तुत कल्पनाद्वय का संवाद नहि इसलिए अभी तो कल्पनामात्र है। 'संस्कार' का अर्थ इस प्रकार है:–"संस्कारः प्रतियत्नेऽनुभवे मानसकर्मणि" (६१०–हैमअनेकार्थ संग्रह) संस्कार माने प्रतियत्न, अनुभव और मनोव्यापार।

भजन ३८ वां

१४६. **उलटपलट**–सब तरफ से–इधर से और उधर से।

देशीनाममाला में 'अल्लट्टपल्लट्ट' शब्द आता है। "अल्लट्टपल्लट्टं अंगपरिवत्ते"–(वर्ग १ गाथा ४८) 'अल्लट्टपल्लट्ट' माने शरीर को इधर से उधर और उधर से इधर परिवर्तित करना। सम्भव है कि प्रस्तुत 'उलटपलट' शब्द का देश्य 'अल्लट्टपल्लट्ट' से सम्बन्ध हो। मात्र भजन के 'उलटपलट' शब्द का अर्थ व्यापक–

विस्तीर्ण करना चाहिए । इसी प्रकार गुजराती 'उलटपालट' शब्द का भी संबन्ध 'अल्लट्टपल्लट्ट' से बैठेगा। देश्य 'अल्लट्टपल्लट्ट' में मूल शब्द 'पर्यस्त' हो सकता है। 'पर्यस्त' का प्राकृत होगा 'पल्लट्ट'। यही 'पल्लट्ट' द्विरुक्त होने से 'पल्लट्टपल्लट्ट' होकर उससे देश्य 'अल्लट्टपल्लट्ट' शब्द आया हो? इस तरह से उसको लाने में उसके अर्थ की भी क्षति नहि।

१४७. **विमासी**—विचार करके

'वि+मर्श' धातु से प्राकृत 'विमास' होकर उसपर से 'विमासी' रूप आता है। सं० विमृश्य—प्रा० विमासिअ—विमासी

भजन ३९ वां

१४८. **भो**—भय

सं० भय—अ०प्रा० भयु—भउ—भो।

भजन ४१ वां

१४९. **त्रिगुन**—सत्त्व, रज और तम यह तीन गुन।

१५०. **फांसा**—पाश

सं० पाश—फास—फंस—फांसा गुज० | फांसो
फांसलो

'फंसना' और 'फसवुं' (गुज०) क्रियापद का भी मूल 'पाश' में है। "पशण् बन्धे" (धातुपारायण चुरादिगण [illegible]

१८६) धातु से 'पाश' शब्द बना है। 'पश' माने बांधना।

१५१. **बिकानी**–जिस का वेचाण हुआ ऐसी–बिक गई।

सं० वि+क्री+ना–प्रा० विक्किण। प्रस्तुत 'विकानी' की प्रकृति प्रा० 'विक्किण' है।

भजन ४२ वां

१५२. **पखालो**–साफ करो

सं० प्रक्षालयतु–प्रा०–पक्खालउ–पखालउ–पखालो। 'प्र' के साथ 'क्षल' धातु का आज्ञार्थ तृतीय पुरुष एकवचन। "क्षलण् शौचे"–(धातुपारायण चुरादिगण अंक १२१)

भजन ४३ वां

१५३. **समजल**–शमरूप पाणी

१५४. **मयल**–मेल

सं० मलिन प्रा० मइल—{ मयल / मेल

'मलिन' में 'ल' और 'न' दोनों समान स्थानीय (दंत्य अथवा नासिका स्थान) होने से एक–पूर्व–'ल' लुप्त हो गया हो और फिर शेष 'न', 'ल' के रूप में आ गया हो: मलिन–मइन–मइल। वाग्व्यापार की प्रक्रिया कहीं कहीं विलक्षण मालूम होती है।

भजन ४५ वां

१५५. **लुस**—चोरना

सं० लुषति प्रा० लुसइ—लुसे

"लुष स्तेये"—(धातुपारायण भ्वादिगण अंक ५०१) "लुष—चोरना"

१५६. **संचुं**—इकट्ठा करुं

'सं+चि' धातु उपर से 'संचुं' क्रियापद बना है। 'साचो' उपर का टिप्पण देखो।

भजन ४६ वां

१५७. **नाऊमें**—नावा में

सं० नावा—नाऊ। 'व' का 'उ'।

१५८. **धोर**—दौडना

सं० 'धाव' से भूतकृदंत धौत—धोत—धोड—धोर।

१५९. **धाउ**—दौड

सं० धाव—धाउ। विषय की दौड में दौडना।

१६०. **वढाऊ**—बढना

सं०—वर्ध—वड्ढ—वड्ढाव—वड्ढाउ—वढाउ—वढाउ। 'वड्ढाव' में 'आव्' स्वार्थिक है। प्रेरणा सूचक नहि।

भजन ४८ वां

१६१. **घाम**—गरमी

सं० घर्म–घम्म–घाम। "उष्णेऽपि घर्मः"–(अमरकोश तृतीयकांड, नानार्थ वर्ग श्लो० १४१)

भजन ४९ वां

१६२. **भीजे**–पीघले

भिद्यते–भिज्जए–भीजए–भीजे

'भिजना' और 'भींजावुं' (गु०) क्रियापद की प्रकृति 'भिज्जए' में है।

'भिद्' धातु द्वैधीकरण–भेद–अर्थ में है। विना भेद हुए चित्त पीघलता नहि इससे 'भिज्जए' से 'भींजे' लाना ठीक दीखता है।

१६३. **चेल**–दास

सं० चेट–प्रा० चेडो–चेलो।

भजन ५१ वां

१६४. **छीलर**–पाणी का गड्डा–खाबोचिया

"छिल्लरं पल्वलम्"—(देशी नाममाला वर्ग ३ गाथा २८) 'छिल्लर' शब्द देश्य है उस पर से 'छीलर' शब्द आया है।

भजन ५२ वां

१६५. **ऊपगृह**–घरके पास का भाग। सं० उपगृह।

भजन ५४ वां

१६६. **सत्त**–सत्य अथवा सत्त्व

सं० सत्य–सत्त। सत्तावो–सत्तवादी वा सं० सत्त्व–सत्त।

१६७. **सहड**–सढ–पवन का संचय करनेवाले श्वेत कपडे।

सितपट–सियपट्ट–सियड–सहड–सड–सढ। "संकोइओ सियवडो"–(उपदेशपद टीका)

भजन ५७ वां

परखत–परीक्षा करना।

परि+ईक्ष–परीक्ष–प्रा० परिक्ख–परिक्खंत (वर्त० कृ०)

'परखत' का मूल 'परिक्खंत' में है।

भजन ५८ वां

१६८. **वलुधो**–विशेष लुब्ध।

सं० विलुब्धक:–विलुद्धओ–वलुधओ { वलुधो / वलुंधो }

'वलुंधवुं' (गुज०) का मूल भी 'विलुब्ध' में है।

१६९. **विसहर**–विषधर–साप।

सं० विषधर–प्रा० विसहर।

१७०. **मोझार**–मध्य में–बीच में–में।

सं० मध्यकार–प्रा० मज्झयार। "मज्झम्मि मज्झआरं"–

(देशी नाममाला वर्ग ६ गा० १२१)

के अनुसार 'मज्झआर' शब्द देश्य है।

आदि के 'म' का विवृततम उच्चारण करने से 'मोझार' पद हुआ है। देश्य होने पर भी संस्कृत 'मध्य' प्रा० 'मज्झ' से उसका साम्य अवश्य है।

भजन ५९ वां

१७१. **रेन**—रात्रि

सं० रजनी—प्रा० रयनी—रेण।

१७२. **तुंसाढा**—तेरा।

'तुंसाढा' पंजाबी भाषा का पद है।

भजन ६१ वां

१७३. **ऊजड**—शून्य जगह

"सुण्णे उज्जडं"—(देशीनाममाला वर्ग १ गाथा ९६) के अनुसार 'उज्जड' शब्द देश्य है। उज्जड—ऊजड। उद्ध्वस्ता जना यस्मात् तद् उज्जनम् अर्थात् जिस स्थान से मानव नीकल गए हैं वह स्थान उज्जन। 'उज्जन' से प्रा० उज्जण।

प्रा० 'उज्जण' से 'उज्जड' शब्द आना शक्य है परंतु प्रचाराभाव होने से नहि लाया गया हो।

१७४. **पायाल**—पाताल—निम्नतम स्थान।

सं० पाताल प्रा. पायाल।

१७५ थोथुं—खाली—कुछ भी न मिला हो ऐसा।

'थूत्' अव्यय का द्विरुक्त प्रयोग 'थूत्–थूत्' ऐसा होता है। 'थूत्थूत्' का प्राकृत उच्चारण थुत्थू है। प्रकृत 'थुत्थू' से 'थोथुं' शब्द आना सहज है। सांप आदमी को काटता है परन्तु उससे सापका पेट नहीं भरता, उसकी भूख नहीं शमती। इससे कहावत है कि "साप खाता है पर उसका मुंह 'थोथा' याने खाली है"। 'थूत्' अव्यय 'थुंक' का वाचक है अतः 'थोथुं' का अर्थ भी 'थुंक' ही होगा। खाने पर भी मुख में मात्र थुंक ही रहता है किन्तु और कुछ भी नहि आता ऐसा भाव प्रस्तुत 'थोथुं' का है। द्विरुक्ति से मात्र 'थुंक ही थुंक' भाव स्पष्ट होता है।

१७६. उखाणो—कहावत।

स० उपाख्यान—प्रा० ओक्खाण—उखाणो वा उखाणुं (गुज०)।

१७७. वयरीडुं—वैरी

सं० वैरी—प्रा० वइरी। स्वार्थिक 'डुं' प्रत्यय आने से वयरीडुं।

१७८. आंकुं—अंकित करुं—वश करुं।

'आंकुं' क्रियापद का मूल 'अङ्क' धातु है जिससे की 'अंकुश' शब्द बना है। जब कोई किसी को वश करता है

तब वह, वश किए हुए प्राणी पर अंकन--चिह्न--अपने विजय का निशान---करता है। प्रस्तुत 'आंकुं' में इसी प्रकार के निशान करने का भाव है।

भजन ६२ वां

१७९. **निखरेंगे**--निकलेंगे।

भजन ६४ वां

१८०. **चार**--मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति और देवगति।

१८१. **भमरी**--भ्रमण करना--नाचते हुए गोलाकार में घुमना।

सं० भ्रमरी--प्रा० भमरी।

भजन ६५ वां

१८२. **रातुं**--रजोगुणयुक्त--राजस

सं० रक्त--प्रा० रत्त--रातुं

१८३. **स्वेत**--सत्वगुणयुक्त--सात्विक।

श्वेत--स्वेत।

भजन ६६ वां

१८४. **तोर रंग का**--तेरे रंग का।

१८५. सूडा--तोता--पोपट।

सं० शुक–प्रा० –सुग, सुअ	स्वार्थिक 'ड' आने से सुअड-सूडा। गुजराती में सूडो।

१८६. **नीके**–नीला।

सं० नीलक–नीक। जिस प्रकार 'मलिन' शब्द से 'मइल' होता है इसी प्रकार 'नीलक' से 'नीक' की उत्पत्ति शक्य है ऐसी कल्पना है। और उसी प्रकार 'नील' से 'लील' (गुज०) शब्द भी आया है।

भजन ६७ वां

१८७. **आश्रव**–पाप और पुण्य आने का मार्ग।

(जैन परिभाषिक) बौद्ध पिटको में भी ऐसा शब्द इसी अर्थ में आता है।

भजन ६८ वां

१८८. **विलई**–विलय होना–नाश होना

सं०–'विलीयते' प्रा०–'विलीयए'। 'विलई' की प्रकृति 'विलीयए' है।

१८९. **ऊधर्युं**–उद्धार करना–बहार नीकालना

सं० उद्धृतम्–प्रा०	उद्धरिअं–ऊधर्युं। उद्धरियं।

भजन ६९ वां

१९०. **पंचम अंगे**—भगवती सूत्र में। 'भगवती' का मूल नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है।

प्रस्तुत भजन की १०वीं कडी में जो भाव बताया गया है वह भाव श्री रायचन्द्रजिनागमसंग्रहमुद्रित भगवती सूत्र में शतक १२ उद्देशक २—पृ० २६० कंडिका ९ में बताया गया है।

भजन ७० वां

१९१. **त्राजुए**—तराजु से

सं० तुलायुग—तुराजुअ—{ त्राजुअ—त्राजवुं (गु०) / तराजुअ।

'तुलायुग' में 'ल' का 'र' होकर त्वरित उच्चारण के कारण 'त्राजुअ' शब्द हो गया है।

भजन ७१ वां

१९२. **मंजारी**—बिल्ली—बिलाडी

सं० मार्जारी—प्रा०—} मज्जारी / मंजारी

भजन ७२ वां

१९३. **नार**—नाला—पाणी का छोटा नाला

सं० नालिका—नारिआ—नार ।

सुरसरि—सुरसरित्—गंगा ।

१९४. **पर्यो**—पडा

सं० पतितः—प्रा० पडिओ—परिओ—पर्यो । देखो 'परना' का टिप्पण ।

१९५. **वधिक**—कसाई

सं० 'वधिक' वा 'वधक' ।

भजन ७४ वां

१९६ **सेमर**—सेमर का वृक्ष ।

सं० शाल्मल—प्रा० सम्मल—सम्मर—सेमर ।

भजन ७५ वां

१९७. **औगुन**—अवगुण

सं० { अवगुण—ओगुण—औगुन ।
अपगुण

१९८. **घरी**—घडी

सं० घटिका—प्रा० घडिआ—घडी—घरी ।

वस्तुतः 'घटी' शब्द 'लघु घडा' को दर्शाता है परन्तु सच्छिद्र घटकी जलस्रवण वा वालुकापतन की क्रिया से काल-ज्ञान होता है इसलिए 'घटी' शब्द भी कालवाची हो गया है ।

भजन ७६ वां

१९९. **सलोना**—नमकीन—लवणवाला ।

सं० सलवण—प्रा०—सलउण—सलोण-सलोना ।

२००. **रोना**—रुदन करना ।

सं० रोदन—प्रा० रोअण—रोअन—रोना ।

भजन ७७ वां

२०१. **ठाढे**—खडे

सं०—स्तब्धः—प्रा० ठड्ढे—ठाढे ।

भजन ७८ वां

२०२. **हाड**—हड्डी ।

सं०—अस्थि—प्रा० अट्ठि—अड्डि—हड्डि—हाड—हाडकुं ।

जिस तरह 'ओष्ठ' का 'होठ' हो गया है उसी प्रकार 'अस्थि' का 'हड्डि' हुआ है । स्वरस्थानीय 'ह' महाप्राण नहि है यह ख्याल में रहें । देशीनाममाला में भी 'हड्डं अट्ठिम्मि'—(वर्ग ८ गाथा ५९) कह कर 'हड्ड' शब्द को देश्य बताया है परंतु 'हड्ड' शब्द भी 'अस्थि' प्रकृतिक हैं ।

२०३. **पोली**—पूला

"'पूल' संघाते"—("पूली तृणोच्चयः" धातुपारायण भ्वादिगण अंक ४२६) धातु से 'पोली' शब्द बना है । पूली माने घास का समूह—पूला ।

भजन ७९ वां

२०४. साही—सहायक

सं० सहायी—साही ।

२०५. जूझिहै—जूझेगा—युद्ध करेगा ।

सं० योत्स्यति—प्रा० जुज्झिहिइ—जूझिहै ।

भजन ८० वां

२०६. कौडी

सं० कपर्दिका प्रा० कवड्डिआ—कउड्डिआ—कौडी। देखो १११ 'कवडी' ।

२०७. संवारै—ठीक करे

सं०—समारचयति—प्रा० समारइ—संवारइ—संवारे अथवा सं० सं+मृज्—प्रा० सं+मारज्—संमारजइ—संमारअइ—संमारइ—संवारइ—संवारे ।

भजन ८१ वां

२०८. बाती—बत्ती ।

सं० वर्तिका—प्रा० वत्तिआ—बाती ।

२०९. बरै—जलती है ।

सं० ज्वलति—प्रा०—वलइ—बरइ—बरे ।

भजन ८३ वां

२१०. **एळे**–(गुज०) कीडे की माफक।

सं० इलिका–इलिकायाः प्रा० इलिआए–एळे ।

'एळे' शब्द 'व्यर्थ' को बताता है। 'इलिकायाः' इलिका के समान–जिस प्रकार 'इलिका' का जन्म व्यर्थ है इसी प्रकार आत्मज्ञान के विना मानव का भी जन्म व्यर्थ है यह भाव 'एळे' शब्द का है। 'इव' शब्द अध्याहृत है।

२११. **मावठा** (गुज०) माघमास की वृष्टि।

सं० माघवृष्ट–प्रा० माहवट्ठ–मावठुं ।

२१२. **वूठी**–वरसना–वृष्टि हुई ।

सं० वृष्ट प्रा० वुट्ठ स्त्रीलिंगी–वुट्ठी–वूठी।

२१३. **लोचंन** (गुज०) उखाडना।

सं० 'लुञ्चन' का अपभ्रष्ट लोचंन।

भजन ८४ वां

२१४. **हैडुं** (गुज०) हृदय।

सं० हृदय–प्रा० हिअय। स्वार्थिक 'ड' लगने से 'हिअयड' इस पर से हैडुं।

२१५. **करेश** (गुज०) करेगा।

सं० करिष्यसि—प्रा० ⎫ करिहिसि ⎫ करेश ।
करेहिसि ⎬ करीश ।
करेइसि
करेसि ⎭

२१६. **पडशे** (गुज०) ।

पतिष्यति—प्रा० पडिस्सइ ⎫ पडशे ।
पडेस्सइ ⎭

भजन ८५ वाँ

२१७. **आंगमे**—आक्रमण करे ।

सं० आक्रामति प्रा०—अक्कमइ—आकमइ—आंकमे—आंगमे (?) अथवा सं०—आगमयते—प्रा० आगमए—आंगमे । आगमयते—प्रतीक्षा करना ।

२१८. **दुग्धा**—आपत्ति—कष्ट ।

संभव है कि सं० 'दुःखाधि' शब्द से यह शब्द निकला हो ? अथवा 'दग्ध' (जलन) से 'दुग्धा' बन गया हो ? अथवा 'दुःखदाह' शब्द से 'दुक्खडाह' होकर उस परसे 'दुग्धा' हो गया हो ?

२१९. **सांपडवी**—प्राप्त करनी ।

सं० संपादयितव्य—प्रा० संपाडिअव्व । 'सांपडवी' का मूल 'संपाडिअव्व' में है ।

२२०. **नरखे**–देखे।

सं० निरीक्षते–प्रा० निरिक्खए–नरखे।

भजन ८६ वां

२२१. **पांगरे**–अंकुरयुक्त हो।

सं० प्र+अङ्कुर–प्राङ्कुर–प्राङ्कुरयति। 'क' का 'ग' होने से और संयुक्त के पूर्व का ह्रस्व होने से प्रा० 'पङ्गुरेइ'। 'पङ्गुरेइ' से पांगरे। 'पांगरे' माने अंकुरयुक्त हो–विशेष पल्लवित हो "घन वरसे वन पांगरे" माने वृष्टि होती है तब वन अंकुरित होता है। 'पांगरवुं' (गुज०) क्रियापदका मूल 'प्राङ्कुर' में हैं।

गूजराती भाषा में 'रस्सी' के अर्थ का सूचक 'पांगरा' शब्द है। उक्त 'पांगरा' की व्युत्पत्ति रस्सीसूचक सं० 'प्रग्रह' शब्द से करने की है। बालक को शयन करने के 'घोडिये' की रस्सी को गूजराती में 'पांगरा' कहते हैं।

२२२. **वणश्यो**–विनष्ट हुआ।

सं० विनष्टः प्रा० विणसिओ–वणश्यो। गुजराती के 'विणसवुं' क्रियापदका मूल 'वि+नश्' में हैं।

२२३. **वगडयुं**–विगड गया।

सं० वि+घट्–विघटित। प्रा० वि+घड–विघडिअ। 'वगडयुं' शब्द का मूल 'विघडिअ' शब्द में है और 'विगडना'

तथा 'बगडवुं' (गुज०) क्रियापद का मूल 'विघड' धातु में है। अथवा सं० 'कृत' के स्थान में अनेक जगह प्रा० 'कड' प्रयोग आता है। 'कड' को 'वि' पूर्व करने से और 'क' का 'ग' करने से 'विगड' शब्द होता है। प्रस्तुत 'विगड' से भी "बिगडना,' बगडचुं' और 'बगडवुं' का होना संभवित है और अर्थमें भी कोई क्षति नहि। 'विगड' माने विकृत–विकार प्राप्त —बिगड गया।

२२४. मही–दही।

संस्कृत के कोशोमें 'गो' के पर्यायोमें 'माहेयी' और 'माहा' शब्द आते हैं। जिस प्रकार 'गव्य' शब्द से दूध, दही और घी का बोध होता है उसी प्रकार 'माहेय' शब्द से दूध और दही का बोध होता है। क्यों कि 'माहेय' का मूल 'माहेयी' और 'माही' शब्द है तथा उनका अर्थ 'गाय' है। माहेय्याः इदम् अथवा माहाया इदम् 'माहेयम्'। प्रस्तुत 'मही' शब्द की मूल प्रकृति 'माहेय' शब्द है। दूध वेचनेवाली को 'महियारी' कहते हैं। क्योंकि 'महियारी' शब्द का भी संबंध उक्त 'माहेयी' वा 'माहा' से है। जो 'माहेयी' वा 'माही' को पालती है–चराती है वह 'महियारी' ऐसा भाव 'महियारी' शब्दमें होना चाहिए। "माहेयी सौरभेयी गौः"–(अमरकोश वैश्य वर्ग कां० २

श्लो० ६६) "गौः सौरभेयी माहेयो माहा" –(हैम अभिधान चिंतामणि कांड ४ श्लो० ३३१)।

२२५. **माखण**–मक्खन

सं० म्रक्षण प्रा० मक्खण–माखण। अमरकोश और हैमकोश दोनोंमें 'म्रक्षण' शब्द तो है परंतु वहां उसका अर्थ तैल–स्नेह–किया गया है। "म्रक्षणाऽभ्यञ्जने तैलम्"—(अमरकोश वैश्यवर्ग श्लो० ५०) "तैलं स्नेहोऽभ्यञ्जनं च" (हैम अभिधान चिंतामणि कां० ३ श्लो० ८०) अमरकोश का टीकाकार तो कहता है कि 'म्रक्षण' इत्यादि उक्त श्लोक अमरकोश में मूलमें नहि है किंतु प्रक्षिप्त हैः "म्रक्षण" इत्यर्धं क्षेपकम्"–(अमरकोश टीका)। जैन ग्रंथोमें 'मक्खन' शब्द 'माखन' के अर्थ में आता है इसको देखकर 'म्रक्षण' से 'माखण' की कल्पना सूझी है। संस्कृत के हैम धातुपाठमें भी 'म्रक्ष' धातु 'स्नेह' अर्थ में नहि मिलता। "म्रक्षण म्लेच्छने" "म्रक्ष संघाते" (धातुपारायण चुरादिगण १४९, भ्वादिगण ५६८) इस प्रकार एक 'म्रक्ष' धातु का 'म्लेच्छन' अर्थ है और दूसरे का 'संघात'। परंतु 'स्नेह' अर्थ में 'म्रक्ष' धातु होना ही चाहिए क्योंकि आचार्य हेमचंद्र अपने प्राकृत व्याकरण में "म्रक्षेः चोप्पडः"–(८–४–१९१) सूत्र बनाकर 'म्रक्ष' और 'चोप्पड' को पर्यायरूप बताते हैं। कितनेक धातु सौत्र याने सूत्रोक्त होते

हैं। वैसे सौत्र धातु, धातुपाठ में नहि आते। संभव है कि प्रस्तुत 'म्रक्ष' धातु सौत्र हो जिस का अर्थ 'चोपडना' है। उस 'म्रक्ष' धातु से 'म्रक्षण' बन कर उससे प्रा० 'मक्खन' रूप होगा जो 'माखन' का मूल है। आचार्य हेमचंद्रने अपने प्राकृत द्व्याश्रय में सर्ग ७ श्लो० ३६ में 'मक्खंतं' रूपका 'चोपडने' अर्थ में प्रयोग किया है। "म्रक्षयन्तम्—विलेपनं कुर्वन्तम्" (द्व्याश्रयटीका) इससे भी 'चोपडने' अर्थ में 'म्रक्ष' धातु का होना मानना न्याय्य है।

भजन ८७ वां

२२६. **साथरो**—पत्तोंका बिछौना।

सं०—स्रस्तर—प्रा० सत्थर—साथरो।

"संस्तर—स्रस्तरौ समौ"—(हैम अभिधान चिन्तामणि कां० ३ श्लो० ३४६) "संस्तरः पल्लवादिरचिता शय्या"—टीका।

२२७. **परहरि**—छोड करके।

सं० परि+हृ—परिहृत्य प्रा० परिहरिय—परहरी।

२२८. **धसे**—धसना—प्रगल्भ—होना गर्व करना।

सं०—धृष् प्रा०—धस्—धसइ—धसे।

२२९. **तनडानी**—शरीरकी

सं० तनुक प्रा० तणुअ। स्वार्थिक 'ड' प्रत्यय होने से तणुअड—तनडा—षष्ठी तनडानी। 'तनु' शब्द 'शरीर' अर्थ में प्रसिद्ध है।

भजन ८८ वां

२३०. **नांणे**—न लाना । न+आंणे—नांणे । सं० आनयति—प्रा० आणेइ—आणे—आंणे ।

२३१. **अडिखम**—समर्थ—बलवान्

सं०—क्षम—प्रा०—खम । 'खम' का पूर्वंग 'अडि' की व्युत्पत्ति अवगत नहि है । संभव है कि सं० 'आढ्यक्षम' शब्दसे प्रस्तुत 'अडिखम' का संबंध हो: स०—आढ्यक्षम—अढ्यक्षम—अढिअखम—अडिअखम—अडिखम । 'आढ्यक्षम' माने समर्थतम ।

२३२. **आखडे**—परस्पर मारामारी करे

'आखडे' के मूलमें "खदिष् खदने" वा "खिट उत्त्रासे" धातु का संभव है—(हैम धातुपारायण भ्वादि १००५, १७८)

'खदन'—विदारण करना और 'उत्त्रास'—त्रस्त करना । प्रस्तुत में दोनों धात्वर्थ घटमान है । सं० खद—आ+खद् । प्रा० अक्खद—अक्खड—अक्खडइ—आखडइ—आखडे । अथवा खिट—आ+खिट—आखेट प्रा० आखेड । आखेडइ—आखडइ—आखडे । 'खिट' की अपेक्षा 'खद्' से लाना ठीक लगता है ।

भजन ८९ वां

२३३. **मरद**—पुरुष ।

सं० 'मर्त्य' और प्रस्तुत 'मरद' में अक्षरसाम्य और

अर्थसाम्य दोनों हैं। पुरुषवाची माटी, माटीडो (गू०) माडु (कच्छी) शब्दों का मूल भी 'मर्त्य' ही प्रतीत होता है।

२३४. **विसारी**—वीसर जाना—विस्मरण हो जाना।

सं० विस्मर—वीसर। 'विसारी' का मूल 'वीसर' में है।

भजन ९० वां

२३५. **राची**—राचना—राग करना—आसक्त होना।

सं० रञ्ज्—रज्यति प्रा० रज्जइ—राजइ—राचइ।

प्रा० 'रज्ज' का भूतकृदंत रज्जिअ—राजिअ—राचिअ—राची। गुज० 'राचवुं' का मूल प्रस्तुत 'रञ्ज' में है।

२३६. **पांच**—पांच तन्मात्रा—पृथ्वी तन्मात्रा, जल तन्मात्रा, वायु तन्मात्रा, तेज तन्मात्रा, शब्द तन्मात्रा।

पचीस—सांख्यदर्शन संमत प्रकृति के परिणामरूप पचीस तत्त्व हैं।

२३७. **अलगा**—लगा हुआ नहि—भिन्न।

सं० अलग्न—प्रा० अलग्ग। प्रस्तुत 'अलगा' शब्द का 'अलग' शब्द के साथ अक्षरसाम्य और अर्थ साम्य दोनों हैं।

२३८. **ओळख्या**—पहिचाना।

सं० अवलक्षते—प्रा० ओलक्खए—ओलखे (गुज०)।

सं० अवलक्षितः—प्रा० ओलक्खिओ—ओळख्यो ('')।

बहुवचन—ओळख्या।

भजन ९१ वां

२३९. **लवरी**--बकवाद--बहु बोलना

सं०--'लप्' प्रा०--'लव्' । प्रस्तुत 'लव्' धातु 'लवरी' का मूल है। 'र' प्रत्यय स्वार्थिक है।

२४०. **झगडो**--कलह

'झगडा' की व्युत्पत्ति अनवगत है। परन्तु देशीनाममाला में "विदवियम्मि जगडिओ"--(वर्ग ३ गाथा ४४) 'कदर्थित' अर्थ में 'जगडिअ' शव्द आता है। 'कदर्थना' और 'कलह' में अधिक साम्य है इससे संभव है कि प्रस्तुत 'झगडा' शव्द का 'जगडिअ' से संबंध हो।

२४१. **दाम**--पैसा

सं० द्रव्य--प्रा० दव्व के साथ 'दाम' का संबंध होना शक्य है। दव्व--दाव--दाम। 'द्रव्य' शव्द धन का वाचक है और 'दाम' भी। कल्पित 'द्रम्म' शव्द से 'दाम' आता है परंतु 'द्रम्म' की व्युत्पत्ति निश्चित नहि। संभव है कि 'द्रम्म' वाच्य सिक्का तांबेका बनता हो और जिस तरह पैसावाचक 'तांबिया' शव्द ताम्र से संबंध रखता है इसी तरह 'द्रम्म' भी 'ताम्र' से संबंधित हो: ताम्र--तंब--तम्म--दम्म--द्रम्म। 'र' कार प्रक्षिप्त मानना होगा।

२४२. **वाळ**--केश

सं० वाल–वाळ "चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः" (अमरकोश मनुष्यवर्ग श्लो० ९५) "कुन्तलाः कचाः वालाः स्युः"–(हैमअभिधान चिंतामणि कांड ३ श्लो० २३१)

२४३. **खरशे**–खर जायगा। सं० क्षरिष्यति–प्रा० खरिस्सइ–खरिस्से–खरशे। मूल धातु 'क्षर' है।

भजन ९२ वां

२४४. **रुदामां**–हृदय में

'हृदय' शब्द का ही 'रुदा' ऐसा विकृत उच्चारण है।

भजन ९३ वां

२४५. **दीवेल**–दीप में जलने योग्य तैल। सं० दीपस्य तैलम्–दीपतैलम्–प्रा०–दीवतेल–दीवएल–दीवेल। गूजराती में 'दीवेल' का प्रसिद्ध अर्थ एरंडी का तैल है। 'कोपरेल' 'एरंडेल' इत्यादि शब्दो में अन्त्य 'एल' 'तैल' का विकृत उच्चारण है।

'तैल' शब्द का साधारण भाव 'तिलों का तेल' है परन्तु 'कोपरेल' आदि शब्दों का अन्त्य 'एल' जो 'तैल' का परिणाम है (तैल–तेल–एल) उसका भाव 'तिलों का तेल' नहि समजना किन्तु मात्र 'तेल'–स्नेह–समजना। आचार्य हेमचन्द्र के कथनानुसार म्रक्षण, तैल, स्नेह, अभ्यञ्जन ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं:—"म्रक्षणं तैलं स्नेहः अभ्यञ्जनम्" —(हैमअभिधानचिन्तामणि कांड ३, श्लो० ८०–८१

संस्कृत के वैयाकरण लोक, 'सर्षपतैल' प्रभृति शब्दो में 'सर्षप के साथ लगा हुआ 'तैल' को प्रत्यय कहते हैं : "तिलादिभ्यः स्नेहे तैलः"—७–१–१३६।

'तिल प्रकृतिक 'तैल' के अर्थ को लक्षणा से व्यापक करने से 'सर्षपतैल' आदि शब्द सिद्ध हो जाते हैं फिर भी 'तैल' प्रत्यय की कल्पना क्यों की होगी?

२४६. **परणायुं**—दीवा रखनेका आधार

संस्कृत में 'परायण' शब्द 'आश्रय' के अर्थ में आता है। संभव है कि 'परायण' में 'ण' और 'य' का व्यत्यय होकर 'परणाय' शब्द आया हो। निश्चित नहि।

"परायणं स्याद् अभीष्टे तत्पर–आश्रययोः अपि" (हैम अनेकार्थ संग्रह कांड ४ श्लो० ८४) अर्थात् परायण–१ अभीष्ट २ तत्पर ३ आश्रय।

२४७. **दीवेट**—बत्ती—वाट।

सं०—दीपवर्ति प्रा० दीववट्टि। दो 'व' साथमें आने से उच्चारणमें कुछ क्लिष्टताका भास होता है उसको हटाने के लिए और त्वरित उच्चारण के कारण एक 'व' को हट जाना पडा: 'दीवअट्टि' 'अ' की 'य' श्रुति होने से 'दीवयट्टि'। 'य' का संप्रसारण होनेसे दीवइट्टि—दीवेट्टि—दीवेट। 'दीवेटिया' शब्द का मूल भी प्रस्तुत 'दीपवर्ति' शब्द है। वर्ति शब्द के पांच अर्थ बताए हैं:—

"वर्तिः गात्रानुलेपिन्यां दशायां दीपकस्य च।
दीपे भेषजनिर्माण—नयनाञ्जनलेखयोः ॥ १९० ॥
(हैम अनेकार्थ संग्रह द्वितीय कांड) अर्थात्

वर्ति—१ अगरवाट, २ दीपकी वाट, ३ दीप, ४ ओषध की वाट और आंखमें आंजने की वाट।

२४८. अणभे—भयरहित—अभय—अभयदशा प्राप्त होने पर।

सं०—न+भय—अभय प्रा० अणभय—अणभइ—अणभे।

२४९. ताळुं—ताला

सं० तालकम्—प्रा०-तालअं—तालउं—तालुं—ताळुं। "द्वारयंत्रं तु तालकम्"—(हैमअभिधान चिंतामणि ४ कांड श्लो० ७१) "द्वारपिधानाय लोहमयं यन्त्रं द्वारयन्त्रम्"—टीका)

'द्वारयंत्र'—द्वार को ढकने के लिए लोहे का यंत्र और 'तालक' दोनों पर्याय शब्द है। प्रस्तुत 'तालक' शब्द अमरकोश में नहि है।

भजन ९४ वां

गाथा ७ वीं का भाव—

चरण १—क्रोध को निकालना हो तो क्रोध के ही प्रति क्रोध करना चाहिए।

चरण २—अभिमान का नाश करना हो तो 'मैं सब से बडा दीन हुं' ऐसा अभिमान रखना चाहिए।

चरण ३—'माया' का ध्वंस करना हा तो प्रवृत्ति मात्र साक्षी भाव से करनी चाहिए। 'अंदर कुछ और बाहर कुछ' ऐसी वृत्ति का नाम 'माया' है ऐसी माया का नाश करना हो तो जो जो प्रवृत्ति करनी पडती है उसमें आसक्त न होकर उन सब को साक्षी भाव से—तटस्थ भाव से—उपेक्षा भाव से करने की माया रखनी चाहिए अर्थात् बाहिर से कर्ता होना और अन्तर से साक्षिभाव से रहना यह भी एक प्रकार की माया ही है। ऐसी ही माया, दोषरूप माया का अंत कर देगी और आत्मस्वरूप की प्राप्ति में साधनरूप होगी।

चरण ४—लोभ को मिटाना हो तो लोभसमान संकुचित नहि होने का लोभ रखना चाहिए। संकुचित न होने की वृत्ति--अर्थात् व्यापकवृत्ति--रखने का लोभ रखने से लोभदोप हट जायगा।

२५०. **सींदरी**—छींदरी—रस्सी—नालियेर के छालों से बनी हुई रस्सी।

'सींदरी' शब्द की मूल व्युत्पत्ति अवगत नहि. देशीनाममाला में 'रज्जु—रस्सी' के अर्थ में 'सिंदु' और 'सिंदुरय' शब्द आया है। 'सिंदुरय' शब्द से 'सींदरी' शब्द सरलतासे आ सकता है। 'सिंदु' शब्द को स्वार्थिक 'र' प्रत्यय करने से भी उससे 'सींदरी' शब्द आ सकता है। 'सिंदी' शब्द 'खजूरी' के

अर्थ में देशीनाममाला में आया है। संभव है कि—'सींदरी' खजूरी के रेसों से बनती हो उससे उसका नाम सींदरी हुआ हो।

"सिंदु रज्जू" —(देशीनाममाला वर्ग ८, गाथा २८)

"सिंदुरयं×रज्जूए" (देशीनाममाला वर्ग ८ गाथा ५४)

"सिंदी×खज्जूरी"–(देशीनाममाला वर्ग ८ गाथा २९)

'सींदरी' का पर्याय छींदरी, छींदरुं भी गुजराती भाषा में प्रतीत है और उनकी उपपत्ति 'सींदरी' के अनुसार है।

२५१. **अडोल**–अकंप–निश्चळ।

"दुलण्–उत्क्षेपे"–(धातुपारायण चुरादिगण अंक १२६) दोलयति इति दोलः न दोलः अदोलः–प्रा० अडोल।

हिंदी 'डोलना' और गुजराती 'डोलवुं' की मूल प्रकृति उक्त 'दुल' धातु है। 'डोली' शब्द भी 'दोला' से आया है।

भजन ९५ वां

२५२. **अंधार**–अंधेरा।

अन्ध+कार–अन्धकार प्रा० अंधआर–अंधार–अंधारुं।

अन्धकार माने अन्धा करनेवाला–'अन्धकार' का आवरण आने से आंख से कुछ भी नहि दीखता–वह अंधी हो जाती है इससे उसका–अंधकार का–नाम 'अंधार' यथार्थ है।

२५३. **संभाळ**–बचाव–रक्षा करो।

सं० भृ—संभारय—प्रा० संभालय—संभाल। 'भृ' धातु 'धारण' और 'पोषण' अर्थमें प्रसिद्ध है।

२५४. **उजाळ**- प्रकाशित कर।

सं० उज्ज्वालय—उज्जालय—उजाळ।

'ज्वल' धातु का 'दीप्ति' अर्थ प्रतीत है।

२५५. **निभाव्यो**—निर्वाह किया।

सं० निर्वाहितः—निव्वहाविओ—निव्हाव्यो—निभाव्यो।

भजन ९७ वां

२५६. **फकीरांदी**

'दी' शब्द षष्ठीविभक्ति का सूचक है और पंजाबी भाषा का है।

२५७. **चबावें**—चावना।

"चर्व अदने"—(धातुपारायण भ्वादिगण अंक ४५२)

सं० चर्वयति प्रा०—चव्वावेइ—चबावें।

'चावना' और गुजराती 'चाववुं' क्रियापद का मूल 'चर्व' धातु में है।

२५८. **ओढें**

सं० अव+स्तृ—प्रा० ओत्थ—ओढ। 'स्तृ' धातु 'आच्छादन' अर्थ में प्रसिद्ध है। "स्तृंगट् आच्छादने"—(धातुपारायण

स्वादिगण अंक ७)। हिन्दी 'ओढना,' 'ओढणुं' 'ओढवुं' (गू०) शब्दों की प्रकृति भी 'अव+स्तृ' है।

भजन ९८ वां

२५९. **समाई**

सं० समाप्यते-प्रा० समावीअइ—समाई।

२६०. **मुकर**—दर्पण। सं० मुकुर।

२६१. **जस छाई**-जैसी छाया।

सं० छाया प्रा० छाहो—छाई।

२६२. **आपा**—आत्मा

सं आत्मा—प्रा० अप्पा—आपा।

२६३. **चीन्हे**—पीछान करे।

सं० चिह्न—चिह्नित—प्रा० चिन्हिअ—सप्तमी—चिन्हिए—चिन्हे।

२६४. **काई**—सेवाल—मल

'नील सेवाल' अर्थ में देश्य 'कावी' शब्द है. प्रस्तुत 'काई', देश्य 'कावी' का रूपांतर है। "कावी णीला"—"कावी नीलवर्णा"—(देशीनाममाला वर्ग २ गा० २६)।

२६५. **माटी**। सं० मृत्तिका—प्रा० मट्टिआ—माटी

२६६. **मनसा**—इच्छा। सं० मनीषा—प्रा० मनीसा—मनसा।

२६७. **परसै**—स्पर्श करे। सं० स्पृशति—प्रा० फरिसइ—परसे।

शब्दों की व्युत्पत्तियां और समजुती में आए हुए शब्दों की सूचि